भारत का
नव निर्माण तथा हम

लेखक

मौलाना अबुल्लैस इस्लाही नदवी (रह०)

अनुवादक

अफ़ज़ल हुसैन

विषय सूची

भूमिका

जमाअते इस्लामी एक सुप्रसिद्ध संस्था है । शिक्षित वर्ग इससे अपरिचित नहीं । यह मानवजाति को ईश्वरवाद का निमंत्रण देती है । इसके अधिवेशन, भारत के विभिन्न प्रान्तों में होते रहते हैं । इसका वार्षिक अधिवेशन 27 से 30 नवम्बर, 1952 ई० तक हैदराबाद में हुआ था । 27 नवम्बर, को वहीं की एक सार्वजनिक सभा में दिए गए एक भाषण का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है । इस सभा में मुस्लिमों तथा ग़ैर मुस्लिमों की एक बड़ी संख्या सम्मिलित हुई थी । मौलाना अबुल्लैस इस्लाही, अमीर जमाअते इस्लामी हिन्द ने भाषण दिया था । इस भाषण में अमीर जमाअत ने पहले तो भारत के स्वतन्त्र होने के बाद से अब तक की प्रगति का जायज़ा लिया, फिर पाश्चात्य सभ्यता की आधारभूत कल्पनाओं की कड़ी आलोचना करते हुए भारतवासियों तथा राष्ट्रनिर्माताओं को उनके अनुकरण के कुपरिणामों की चेतावनी दी और राष्ट्र के नवनिर्माण हेतु वे मूलभूत सिद्धान्त बताए, जो स्थायी, यथार्थ तथा कल्याणकारी हैं । अमीर जमाअत ने जीवन-व्यवस्था की जो रूपरेखा प्रस्तुत की, उसी में सबका हित निहित है । राष्ट्र के शुभचिन्तक होने के नाते इससे सबको अवगत कराना हम अपना कर्तव्य समझते हैं । अतः इस तर्कयुक्त भाषण को हम हिन्दी भाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं और आशा करते हैं कि देश के शुभचिन्तक इस पर गंभीरता से विचार करेंगे ।

—अफ़ज़ल हुसैन

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
(अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपाशील, अत्यन्त दयावान है।)

भारत का नव निर्माण तथा हम

सज्जनो तथा साथियो !

यह एक सच्चाई है कि किसी मनुष्य पर दूसरे मनुष्य का अथवा किसी जाति एवं राष्ट्र पर किसी अन्य जाति एवं राष्ट्र का आधिपत्य नहीं होना चाहिए । इसलिए हमें निस्सन्देह इस पर हर्ष होना चाहिए और है कि भारत को आज से पाँच-छः वर्ष पूर्व एक लम्बे संघर्ष के बाद अन्ततः अंग्रेज़ों की दासता से मुक्ति प्राप्त हुई है और अब वह स्वयं अपने भले-बुरे का मालिक है ।

किन्तु आज़ादी के बाद यह प्रश्न स्वभावतः पैदा होता है कि क्या आज़ादी ही स्वयमेव वह महान् लक्ष्य था जिसकी प्राप्ति के लिए भारत संघर्ष कर रहा था अथवा यह उस लक्ष्य की ओर एक क़दम था, और यह कि आज़ादी स्वयं कोई निधि (नेमत) है अथवा उसका निधि होना कुछ अन्य चीज़ों पर निर्भर है ।

बहुत-से लोग शायद यही समझ रहे हैं कि यही स्वयमेव लक्ष्य अथवा नेमत है । अतः देखने में भी यही आ रहा है कि देश में ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जो आज़ादी के बाद इस पर ख़ुशी मनाने के अलावा अन्य किसी चीज़ से लगाव ही नहीं रखते । वे समझते हैं कि अब वह महान् लक्ष्य हमें प्राप्त हो गया जिसके लिए हम वर्षों से संघर्ष कर रहे थे । अतः अब या तो कुछ करना नहीं है और यदि करना है तो केवल यही कि इस नेमत से हम अपने लिए अधिकाधिक लाभ उठाएँ और संघर्ष में आज़ादी के लिए जो आर्थिक एवं शारीरिक बलिदान किए हैं उनका अब भरपूर मूल्य चुका लें ।

परन्तु यह खुली हुई बात है कि ऐसा वही लोग समझ सकते हैं जिनकी बुद्धि एवं विवेक अत्यन्त संकीर्ण है; और देश में यद्यपि बड़ी संख्या ऐसे ही लोगों की पाई जाती है, परन्तु ख़ुशी की बात है कि ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो आज़ादी का महत्व और उसका उद्देश्य भली-भाँति जानते हैं । यह लोग अच्छी तरह समझते हैं कि यह आज़ादी स्वयमेव कोई नेमत नहीं है बल्कि वही हमारे लिए मुसीबत सिद्ध हो सकती है, यदि हम में इसको बाक़ी रखने की योग्यता न हो । दूसरे यह स्वयमेव कोई महान् लक्ष्य नहीं, बल्कि उस लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन है । इस आज़ादी का सही उपयोग यह है कि हम अधिकारयुक्त होकर

अपने भविष्य को अपनी इच्छा के अनुसार बना-सँवार सकें और अपनी कोशिश से न केवल उन ख़राबियों को दूर कर सकें जो ग़ुलामी के कारण पैदा हो ग थीं वरन् देश को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील करके इस योग्य बना दें कि यह के लोग भी सुखी एवं सन्तुष्ट हो जाएँ और दूसरे लोग भी इसकी प्रगति एवं सुव्यवस्थ देख-देखकर सबक़ लें। यही वह उद्देश्य था जिसकी ओर स्वतन्त्रता आन्दोल के समय बार-बार संकेत किया जाता था और वास्तव में यही वह सुहाना स्वप् था जिसने इस निर्जीव आन्दोलन को प्राणदान दिया था।

आज़ादी के बाद

अब आज़ादी मिले हुए पाँच वर्ष बीत गए हैं, हमें थोड़ी देर ठहर कर गंभीरतापूर्वव विचार करना चाहिए कि हमने इस अवधि में आज़ादी का किस प्रकार प्रयोग किय है और वह कहाँ तक हमारे उस उद्देश्य के अनुकूल है जिसके लिए देशवासियं की कामना थी। यदि इस उद्देश्य की किसी मात्रा में भी पूर्ति हो रही है या पूर् होने की आशा है तब तो समझना चाहिए कि हमारी सारी मेहनत ठिकाने लग रही है और इसपर हमें प्रसन्न तथा सन्तुष्ट होना चाहिए। किन्तु यदि ऐसा नही है तो फिर अवश्य ही यह सोचनीय बात होगी। क्योंकि यदि स्वतन्त्र होने के बाद भी हमारी दशा वही रही जो ग़ुलामी और पराधीनता में थी तो इन आर्थिक तथा शारीरिक बलिदानों का फिर क्या प्रतिफल मिला जो आज़ादी के लिए देश ने सहर्ष किए थे। आइए, हम एकाग्रचित होकर विचार करें कि आज़ादी के बाद हमने किन-किन विभागों में क्या-क्या उन्नति की है।

इस समय इतना मौक़ा नहीं है कि मैं विस्तार से आपके सामने इस प्रगति की चर्चा करूँ, अतः मैं केवल उसकी ओर संक्षेप में संकेत करूँगा।

ख़राबियों का जायज़ा

भारत एक कृषि-प्रधान देश है और मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता भोजन है। किन्तु भारत के कितने प्रदेश ऐसे हैं जहाँ के निवासियों को अकाल एवं दुर्भिक्ष का भयंकर देव आँखें फाड़-फाड़कर न केवल देख रहा है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इसके कारण कितने ही मौत के घाट उतर चुके हैं। खाद्यान्न का अभाव तो पूरे देश में अनुभव हो रहा है और जहाँ यह दुर्दशा नहीं है वहाँ की अवस्था भी कुछ भिन्न नहीं, क्योंकि अन्न होते हुए भी वहाँ के निवासियों को वह चीज़ उपलब्ध नहीं जिसके द्वारा अन्न मिल सकता है।

भोजन के बाद मनुष्य की दूसरी आवश्यकता सुख, शान्ति एवं धन और सम्पत्ति का संरक्षण है । किन्तु अंग्रेज़ों की बनी-सँवरी व्यवस्था के अधिकारी होते हुए भी देश ने इस विभाग में इतनी उन्नति की है कि समाचार-पत्रों के उल्लेखानुसार कितने ही इलाक़ो में आज़ादी से आना-जाना भी असम्भव-सा हो रहा है । विशेष कर उन लोगों के लिए, जो रूप-रंग तथा वेश-भूषा में धनवान प्रतीत होते हों, आशंका ही आशंका है यदि वे अपनी हिफ़ाज़त के लिए कोई विशेष उपाय न कर लें । गाड़ियों तक में दिन-दहाड़े हत्या तथा अपहरण की घटनाएँ होती रहती हैं ।

इन दो अवश्यंभावी भौतिक आवश्यकताओं के अलावा मनुष्य होने के नाते जो चीज़ मनुष्य को अत्यन्त प्रिय हो सकती है, वह देश की नैतिक उन्नति है; ताकि उसे एक सदाचार-सम्पन्न वातावरण में जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सके । परन्तु जिस ओर भी नज़र डालिए अन्याय तथा भ्रष्टाचार फैले और उभरे हुए दिखाई देंगे, मानो खाद्य एवं सुख-शांति के अभाव को भ्रष्टाचार क़ी बढ़ोत्तरी ने पूर्ण कर दिया है । अभी कुछ ही दिन हुए भारत की राजधानी दिल्ली के न्यायालयों में पेश किए जानेवाले मुक़दमों की सूची प्रकाशित हुई थी, जिसमें यह दिखाया गया था कि इन न्यायालयों में सन् 1951 ई० में 90948 मुक़दमे सुने गए जो गत वर्ष की अपेक्षा 19934 अधिक थे । इसी से आप नैतिक पतन का भली-भाँति अनुमान कर सकते हैं ।

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के विषय में पिछले दिनों यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि 20 दिन के भीतर लगभग 60 महिलाओं ने न्यायालयों में आवेदन-पत्र दाख़िल किए थे कि उनके सरपरस्तों ने उन्हें धनोपार्जन का साधन बना रखा है, और दो ने तो स्वयं अपने बापों के बारे में शिकायत की थी कि वे उनके सौन्दर्य तथा यौवन का व्यापार करते हैं ।

एक सरसरी अनुमान के अनुसार देश में 29 लाख से अधिक नर-नारियाँ व्यभिचार तथा अपहरित महिलाओं के क्रय-विक्रय को एक व्यापार के रूप में चला रहे हैं । ये तो वे आंकड़े हैं जिनसे किसी न किसी तरह हम अवगत हो गए हैं, अन्यथा कौन नहीं जानता कि कितने अपराध ऐसे हैं जिनकी कानो-कान ख़बर नहीं होने पाती; और कितने अपराध ऐसे भी हैं जिनको दूसरे प्रकार के अपराधों के परदे से ढक लिया जाता है, और इन दोनों प्रकार के अपराधों पर प्राय: परदा पड़ा रहता है, और असंख्य दुराचार तो ऐसे हैं कि वे हैं तो दुराचार ही, किन्तु उन्हें इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो गई है कि दुराचारों में उनकी गणना ही नहीं होती ।

यह है देश-प्रगति की एक झलक जो पिछले कुछ वर्षों में हुई है; किन्तु हमारी यह प्रगति केवल उन्हीं ख़राबियों तक सीमित नहीं है जिनका सम्बन्ध हमारे वैयक्तिक

जीवन से है बल्कि इसके साथ सामूहिक ख़राबियों में भी देश में अधिकाधिक प्रगति हुई है, और वे ऐसी ख़राबी हैं जो देश के लिए अत्यन्त विनाशकारी हैं। मिसाल के तौर पर देश में साम्प्रदायिकता प्रबल हो रही है। वंश-वर्ण के भेदभाव सि उठा रहे हैं। प्रान्तीय पक्षपात उभर-उभरकर सामने आ रहे हैं। भाषा एवं सभ्यत के नाम पर अलगाव की रुचि जड़ पकड़ रही है। तात्पर्य यह कि ऐसी सामूहिक बुराइयाँ जन्म ले रही हैं जो यदि यूँ ही फलती-फूलती रहीं तो नहीं कहा जा सकता कि देश अन्ततः किन कुपरिणामों से दोचार होगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या यही वह उन्नति है जिसके लिए देशवासियों ने जन-धन का बलिदान दिया था और क्या इस दुर्दशा पर सन्तुष्ट हो जाना उचित भी है? ग़ुलामी और पराधीनता में तो हम अपने को विवश समझा करते थे और अपनी समस्त ख़राबियों तथा भ्रष्टाचारों का दायित्व अंग्रेज़ों के सिर डाल दिया करते थे, किन्तु अब तो अंग्रेज़ जा चुके और हम स्वयं ही अपने बुरे-भले के मालिक हैं। फिर इन बुराइयों की ज़िम्मेदारी किसके सिर डालें!

सुधार के उपाय

आप कह सकते हैं कि देश की ये ख़राबियाँ नेताओं की दृष्टि से ओझल नहीं हैं, और वे इन्हें दूर करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील भी हैं। सम्भवतः ऐसा ही हो। किन्तु क्या वास्तव में ये प्रयत्न हमारे लिए संतोषजनक भी हो सकते हैं? यह बात अवश्य समझ में आनेवाली है कि राष्ट्रों के जीवन में कुछ वर्षों की अल्प अवधि कोई ऐसी अवधि नहीं है जिसमें कोई महान् कार्य हो सके और वह भी ऐसी अवस्था में जबकि देश बहुत दिनों से एक परजाति के अधीन रहा हो। ऐसी दशा में तो उनको अपनी पिछली ग़लतियों पर विजय प्राप्त करने ही के लिए पर्याप्त समय चाहिए, ताकि वह उन्नति की ओर बढ़ सके, और इस पर मुसीबत यह कि स्वतन्त्र होते ही देश को ऐसे संकटों तथा जटिल समस्याओं से पाला पड़ा जो अब भी बहुत कुछ उसके ध्यान को अपनी ओर खींचे हुए हैं। अर्थात् विभाजन तथा उससे पैदाहोने वाली समस्याएँ, जिनमें कश्मीर तथा शरणार्थियों के बसाने की समस्याएँ बहुत महत्व रखती हैं। किन्तु यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि इस अल्पावधि में बाधाओं के होते हुए भी जितना कुछ किया जा सकता था, क्या वह किया गया है और वह हमारे सन्तोष के लिए काफ़ी है? आइए हम इस दृष्टि से नेताओं की कोशिशो का जायज़ा लें।

उपदेश तथा विधान

मैं नहीं समझ सकता कि पढ़े-लिखे और समझदार लोगों की इस सभा में ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो ऊपर बयान की गई ख़राबियों के सुधार हेतु उन उपदेशों को पर्याप्त समझते हों जो कभी-कभी नेता अपने पब्लिक वक्तव्यों तथा भाषणों द्वारा देते रहते हैं । यदि बिना कोशिश के सिर्फ़ उपदेश ही कोई महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए काफ़ी होते तो देश अब तक न जाने कितनी उन्नति कर चुका होता ।

मैं यह तो गुमान नहीं कर सकता कि सुधार के लिए आप लोगों की दृष्टि में वैधानिक शक्ति अथवा पूछ-गछ का भय काफ़ी समझा जाएगा, जिनको नित्य कठोरतम बनाने का यत्न किया जा रहा है । देश में जो कुछ हो रहा है वह अच्छे से अच्छे विधान तथा ऊँचे से ऊँचे न्यायालयों की उपस्थिति में हो रहा है । विधान तथा न्यायालय की विवशता का हाल उत्तर प्रदेश के गृहमन्त्री सम्पूर्णानन्द के शब्दों में सुनिए । उन्होंने 15 अक्टूबर को उत्तर प्रदेश परिषद् में वक्तव्य देते हुए कहा—

> "वेश्यावृति का अभिशाप दूर करने के लिए अब तक जितने यत्न किए गए, वे निष्फल सिद्ध हुए । इस समय राज्य में तीन क़ानून ऐसे लागू हैं जिनका उद्देश्य वेश्यावृति को सीमित करना है ।" उन्होंने कहा— "सरकार किसी समय भी इस अभिशाप को दूर करने अथवा इसे सीमित करने की ओर से असावधान नहीं रही है ।"

याद रखिए विधान की विवशता की यह कोई पहली मिसाल नहीं है । आचार-विचार के सुधार हेतु न जाने कितने विधान बना डाले गए किन्तु 'मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की ।'

रचनात्मक योजनाएँ

कुछ भी हो आपमें से शायद कोई भी इस भ्रम में न होगा कि उपदेश, क़ानून अथवा पूछ-गछ द्वारा वे ख़राबियाँ दूर हो सकती हैं जिनका वर्णन पहले हो चुका है । हाँ, यदि आप यह कहें तो किसी हद तक ठीक होगा कि भारत सरकार केवल इन्हीं पर भरोसा करके बैठी नहीं है बल्कि वह सुधार एवं निर्माण की बड़ी-बड़ी योजनाएँ भी बना रही है, जिनके कार्यशील होने पर ये ख़राबियाँ अवश्य दूर हो जाएँगी और यही उनका असल उद्देश्य है ।

इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता कि यदि देश में सड़कों तथा रेलों का जाल बिछा दिया जाए, बिजली के बल्ब घर-घर लगा दिए जाएँ, स्कूल, कॉलेज तथा यूनिवर्सिटियाँ क़दम-क़दम पर खोल दी जाएँ, कृषि के नए-नए यन्त्र इस्तेमाल

होने लगें, जगह-जगह बड़े-बड़े कारख़ाने खुल जाएँ तो इनसे केवल लोगों की सुख-शांति ही में वृद्धि न होगी, बल्कि इससे देश को सामूहिक रूप में और भी अनेकों लाभ पहुँचेंगे । परन्तु असल सवाल यह है कि क्या वास्तव में इन चीज़ों से देश की वर्तमान ख़राबियाँ भी दूर हो सकेंगी । नए-नए यन्त्रों और मशीनों के द्वारा यदि हमारी भूमि अन्न उगलने लगे, परन्तु किसान तथा व्यापारी मिलकर अन्न को बाज़ार में आने ही न दें, सारे का सारा 'काले व्यापार' की भेंट चढ़ जाए, तो आप ही बताइए, पैदावार में वृद्धि होने पर भी क्या लोग भूखों न मरेंगे ? इस समय भी देश में अन्न की उतनी कमी नहीं है जितनी दीख पड़ती है, भले ही पैदावार आवश्यकता की अपेक्षा कम होती हो । आज जमाख़ोरी तथा चोरबाज़ारी के हाथों देश की यह दुर्गत बन गई है कि मानो भारत के खेत अन्न के स्थान पर भूख तथा अकाल उपजाते हैं । इसके साथ इन काले चोरों का इतना भय है कि खाद्यमंत्री ग़ल्ले पर से नियंत्रण उठा लेना चाहते हैं किन्तु मन्त्रिमण्डल— सेना, पुलिस, न्यायालय तथा विधान रखते हुए भी थर्रा रहा है कि कहीं ये लोग इस अवसर से लाभ उठाकर देश को उसी भीषण परिस्थिति से दोचार न कर दें जिससे देश पिछली बार नियन्त्रण उठने पर दोचार हो चुका है । इसी प्रकार यदि यहाँ बड़े-बड़े कारख़ाने खुल जाएँ, मिलें चालू हो जाएँ, किन्तु इनके मालिकों में— भले ही वह स्वयं राज्य हो अथवा कोई व्यक्ति— न्याय एवं सहानुभूति का अभाव हो और मज़दूरों में भी कर्त्तव्यपरायणता, विश्वासपात्रता एवं स्वार्थत्याग न हो तो प्रायः हड़ताल तथा प्रतिशोध के फलस्वरूप ये कारख़ाने बन्द ही रहेंगे और इनकी पैदावार भी ग़ल्ले के समान देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नाकाफ़ी होगी । बस थोड़े-से लोग इनसे लाभ उठा सकेंगे ।

देश में जगह-जगह शिक्षा संस्थाएँ स्थापित हो जाएँ । किन्तु इनमें वही शिक्षा-दीक्षा प्रचलित हो जो आज है और जिसके विषय में अभी शीघ्र ही शासन के एक ज़िम्मेदार जो शिक्षाशास्त्र के महाविद्वान भी हैं, यह वक्तव्य दे चुके हैं कि "भारत के अनेकों रोग केवल त्रुटिपूर्ण शिक्षाव्यवस्था के फलस्वरूप हैं ।" तो शिक्षा-संस्थाओं के इस बाहुल्य का इसके अतिरिक्त और क्या अंजाम होगा कि बड़े-बड़े अपराध इतनी कुशलता एवं दक्षता के साथ किए जाएँगे कि उनकी रोकथाम में शासन-विधान और अधिक असमर्थ सिद्ध होगा । तात्पर्य यह कि यदि आचार-विचार तथा लोगों की वर्तमान धारणाओं में कोई सुधार न हुआ तो इस उन्नति से उत्पन्न बुराइयों में वृद्धि के अलावा और क्या फल मिल सकेगा ? इस समय तो सड़कों, रेलों, बिजलीघरों तथा पाठशालाओं की कमी है, किन्तु फिर भी ये बुराइयाँ इस क़द्र आम हैं, जब ये सब सुविधाएँ उपलब्ध हो जाएँगी तो क्या इन्हीं के अनुपात से बुराइयों में वृद्धि न होगी ? और ये सुविधाएँ इन भ्रष्टाचारों ही के लिए इस्तेमाल न होने लगेंगी ? एक समाचार पत्र ने कितनी अच्छी बात लिखी है—

"पंचवर्षीय योजना एक बड़ी योजना है, किन्तु इस बात की क्या गारंटी है कि जो लोग इसे कार्यान्वित करेंगे वे और उनके कर्मचारी निःस्वार्थ होकर अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे ? कहीं अपनों को अनुचित रूप से लाभ नहीं पहुँचाया जाएगा ? कहीं जनता का रुपया व्यर्थ ही नहीं फूंका जाएगा ? और कहीं अनुशासनहीनता नहीं होगी ? प्रश्न योजनाओं का नहीं बल्कि सत्यनिष्ठता एवं आचार का है । यदि हम अपने जन साधारण का चरित्र ऊँचा नहीं कर सकते तो बड़ी से बड़ी योजना भी निरर्थक सिद्ध होगी । आज के वातावरण में जब प्रत्येक व्यक्ति पर रुपया कमाने की धुन सवार है और चाँदी के सिक्के तथा काग़ज़ के नोट ही हमारे जीवन में सबसे अधिक महत्व रखते हैं, तो यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक व्यक्ति ज़्यादा से ज़्यादा रुपये कमाने का प्रयत्न करे, भले ही इसके लिए अनुचित साधन अपनाने पड़ें । यह इसी धारणा के फलस्वरूप हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी एवं पाषाण-हृदय बनता जा रहा है, और जो लोग सत्य, न्याय एवं नीति का नारा बुलन्द करते हैं वे दर-दर की ठोकरें खाने पर विवश हो जाते हैं ।" —'तेज' 24 जून, 1952

यही पत्र अपने इसी लेख में सन् 1947 ई० की रचनात्मक योजनाओं की ओर संकेत करते हुए, जो शरणार्थियों को बसाने के लिए तैयार की गई थी और जिस पर सरकार का करोड़ों रुपया ख़र्च हुआ था, प्रश्न करता है—

"क्या कोई व्यक्ति सीने पर हाथ रखकर कह सकता है कि इन करोड़ों रुपयों का यथोचित उपयोग हुआ है और इसका एक बड़ा भाग व्यर्थ ही नष्ट नहीं हुआ है ?"

आप यह न समझें कि यह जो कुछ कहा जा रहा है यह निरी दुर्भावना अथवा बदगुमानी की वजह से कहा जा रहा है । आप स्वयं देख लें कि इस उन्नति के साथ यहाँ कौन-कौन-सी बुराइयाँ किस-किस रूप में जन्म ले रही हैं । नियमबद्ध योजनाएँ और स्कीमें तो अब तैयार हो रही हैं, परन्तु भारत आज़ादी के बाद प्रथम क्षण से इसी उन्नति की ओर प्रगतिशील है । किन्तु जो फल मिल रहा है उसकी झलक आप आंकड़ों के दर्पण में पहले देख चुके हैं । कल्पना कीजिए कि यह सारी योजनाएँ कार्यान्वित हो गईं और इनके फलस्वरूप देश से ग़रीबी एवं निरक्षरता का उन्मूलन हो गया तो क्या आप समझते हैं कि इसके साथ ही देश की सारी ख़राबियाँ दूर हो जाएँगी ? क्या इन ख़राबियों का रिश्ता केवल ग़रीबी तथा निरक्षरता ही से है ? यद्यपि अनुभव साक्षी है कि आज व्यक्ति अथवा क़ौम दोनों में से जो भी धन, सम्पत्ति तथा शिक्षा में जितना बढ़ा हुआ है उतना ही वह नैतिक

दृष्टि से गिरा हुआ भी है । फिर सम्पत्ति और शिक्षा की उन्नति से सामुदायिव जीवन की वे ख़राबियाँ कैसे दूर हो सकती हैं, जो देश के लिए खुला ख़तरा हैं— अर्थात् ऊँच-नीच, वंश-वर्ण का भेद-भाव, बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता, प्रान्तीय पक्षपात आदि । क्या ये बुराईयाँ ग़रीबी और निरक्षरता के कारण हैं ? यदि ऐसा है तो इसका क्या कारण है कि ये रोग अधिकतर उन्हीं लोगों में पाए जाते हैं जो अधिव पढ़े-लिखे तथा धनवान हैं ? अपने देश में भी हम ऐसा ही देख रहे हैं और अन्य देशों में भी ऐसा ही है । यूरोप तथा अमरीका शिक्षा एवं धन में कितने बढ़े हुए हैं फिर भी वहाँ जातियों के बीच संघर्ष हैं, वंश-वर्ण के भेद-भाव मौजूद हैं । दक्षिणी अफ़रीक़ा में इन्हीं शिक्षा एवं सभ्यता पर गर्व करनेवालों के हाथों जो-कुछ हो रहा है उससे तो इस समय भारतवासियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । इसका जवाब आपके विचार में क्या है ?

सारांश यह कि ये सुधार सम्बन्धी रचनात्मक योजनाएँ अपने स्थान पर भले ही अत्यन्त उपयोगी हों, किन्तु हमारे विचार में देश के वास्तविक संकटों तथा ख़राबियों का यह कोई इलाज नहीं है । यदि ये सारी योजनाएँ कार्यान्वित हो भी गईं तो इनकी उपयोगिता केवल इतनी ही होगी जितनी किसी पुराने और टूटे-फूटे घर की इस प्रकार की मरम्मत से होती है कि इसकी नीवों, दीवारों तथा छतों को मज़बूत करना तो छोड़ दिया जाए और प्रयत्न इस बात का किया जाए कि उसकी दीवारें अधिकाधिक बेल-बूटों से सजा दी जाएँ, उसके कमरे अच्छी से अच्छी सामग्री तथा फ़र्नीचर से भर दिए जाएँ । आस-पास आंगन और बाग़ सुसज्जित कर दिए जाएँ । यदि यह सब कुछ किसी दिखावे या दिल बहलाने के लिए किया गया हो तब तो चलो कोई बात नहीं, किन्तु यदि उस घर में आप रहना भी चाहते हों तो इन कामों की प्रशंसा कोई बुद्धिमान तो नहीं कर सकता !

चिन्तन में सुधार

इस अवसर पर आप कह सकते हैं कि देश के नेताओं के सामने केवल इन वाह्य परिवर्तनों ही का कार्यक्रम नहीं है; बल्कि वे देश में वैचारिक क्रान्ति के लिए भी प्रयत्नशील हैं और ऐसी योजनाएँ भी कार्यान्वित हो रही हैं जो प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक बुराइयों को दूर कर सकती हैं ।

जहाँ तक वैचारिक क्रान्ति का सम्बन्ध है, हमें इससे इनकार नहीं है कि इसके लिए यहाँ बहुत कुछ किया जा रहा है । किन्तु हम इस पर आगे चलकर विचार प्रकट करेंगे कि यह वैचारिक क्रान्ति देश को कहाँ ले जा रही है ? रहे सामाजिक सुधार के प्रयत्न तो जहाँ तक क़ानून के द्वारा इनकी रोकथाम का सम्बन्ध है, इस

ार पहले वार्ता हो चुकी है कि यह तरीक़ा कहाँ तक हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के लेए सफल तरीक़ा कहा जा सकती है और यदि इन प्रयत्नों से अभिप्राय उस वालंटियर सेना की स्थापना है जो प्लानिंग कमीशन के फ़ैसले के मुताबिक़ 'भारत सेवक समाज' के नाम से स्थापित की जा रही है, तो भले ही हमारी अनुभूति यह है कि योजना आयोग की सारी योजनाओं में यह योजना अपने उद्देश्य की दृष्टि से कदाचित सर्वोत्तम योजना कही जा सकती है, किन्तु हमें खेद है कि उसका प्रकट रूप देखते हुए हम उससे भी कोई असाधारण आशा नहीं कर सकते। इस संस्था का जो उद्देश्य बताया गया है वह निस्सन्देह अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि यह देश की बहुत-सी तत्कालीन आवश्यकताओं को सामने रखकर तैयार किया गया है, परन्तु असल सवाल इस योजना के गुण-दोष का नहीं, बल्कि इस बात का है कि इस योजना को कार्यान्वित करनेवाले वे लोग कहाँ से आएँगे जिनके दिलों में, पंडित नेहरू की कामना के अनुसार तथा उनके ही शब्दों में—

> "श्रेष्ठ भावनाएँ गतिशील हों, जिनके साहस जीवन की तुच्छ वस्तुओं और निजी स्वार्थ से न टकराते हों, बल्कि वे अपने आपको भूलकर उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रेम में व्यस्त हों।"

देश, निस्सन्देह अच्छे लोगों से ख़ाली नहीं हुआ है, परन्तु स्वार्थपरता, लोभ-लालसा तथा अन्य नैतिक बुराइयाँ यहाँ जिस क़द्र आम हो चुकी हैं उनकी मौजूदगी में यह आशा कैसे हो सकती है कि आवश्यकता के अनुसार ऐसे सदाचारी तथा दृढ़ संकल्प व्यक्ति उपलब्ध हो सकेंगे। और यदि ऐसा हो भी जाए तो इस बात की क्या गारंटी हो सकती है कि यह संस्था जिसे कदाचित उपदेश अथवा परामर्श देने के अतिरिक्त और कोई अधिकार प्राप्त न होगा, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ काम भी कर सकेगी। क्या इससे पहले इससे छोटे पैमानें ऐसे ही उद्देश्यों के लिए अन्य संस्थाएँ स्थापित नहीं हो चुकी हैं ? उनका परिणाम जो कुछ हुआ है इस संस्था का परिणाम क्या उनसे भिन्न होगा ? देश में किसी परिवर्तन तथा सुधार के लिए, केवल इतनी बात तो अपने आप में काफ़ी नहीं हो सकती कि इसके इच्छुक कुछ निःस्वार्थ लोग पैदा हो गए हैं। जब तक स्वयं लोगों की सोच में कोई परिवर्तन न होगा, निःस्वार्थ और सच्चे व्यक्तियों की कामना और उनके सच्चे प्रयत्नों का कोई फल प्राप्त न होगा, और मनोवृत्तियों में परिवर्तन न क़ानून द्वारा संभव है और न निरे उपदेशों द्वारा, जैसाकि पहले कहा जा चुका है और वह भी ऐसी अवस्था में जबकि, एक ओर कामना तो यह है कि लोगों में श्रेष्ठ भावनाएँ तथा उच्चकोटि के गुण पैदा हों और दूसरी ओर, जैसाकि आगे व्याख्या की जाएगी, स्वयं अपने ही प्रबन्ध में ऐसी विचारों और धारणाओं का प्रसार हो

रहा है, जो उच्च संकल्प एवं सदाचार के लिए विषाक्त हैं ।

यदि वास्तव में यह समझा जा रहा है कि देश में सुधार एवं प्रगति के लिए ऐसे व्यक्ति अभीष्ट हैं, जो उच्च-संकल्प तथा सदाचारी हों और इसके लिए किसी दर्जे में इस बात की भी आवश्यकता महसूस की जा रही है कि देश में इस उद्देश्य के लिए कोई यथोचित वातावरण बनाया जाए तो नेताओं को यह भी बताना चाहिए कि भला उन्होंने ऐसे लोग तथा ऐसा वातावरण बनाने का क्या प्रबन्ध किया है ? क्या इसके उत्तर में वे सेक्यूलरिज़्म का नाम लेंगे जिसकी वृद्धि एवं विकास में सारे नेता संलग्न हैं । यद्यपि, जैसा कि आप सुनेंगे, सेक्यूलरिज़्म (धर्मनिरपेक्षतावाद) ही वास्तव में सारी ख़राबियों की जड़ है । क्या इसके उत्तर में उन प्रयत्नों की चर्चा की जाएगी जो क़ौम में क़ौमपरस्ती की भावना जागृत करने के लिए किए जा रहे हैं ? परन्तु क़ौमपरस्ती तो स्वयं एक प्रकार की स्वार्थपरता ही का नाम है । इसमें और व्यक्तिगत स्वार्थपरता में केवल छोटी-बड़ी मात्रा ही का तो भेद है, अन्यथा आत्मा एवं वास्तविकता की दृष्टि से दोनों एक ही हैं । फिर यह गुण प्रशंसनीय कैसे हो जाएगा ? यद्यपि यह स्वार्थपरता बड़ी होने के नाते अधिक निन्दनीय होनी चाहिए । और जब क़ौमपरस्ती भी स्वार्थपरता ही का दूसरा नाम है, तो जो व्यक्ति जाति अथवा राष्ट्र के स्वार्थ के लिए स्वार्थपरता का अपराधी हो सकता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इससे भला क्यों बचने लगा ? कौन-सी शक्ति इसमें बाधक बन सकती है ?

सुधारकों की दृष्टि-संकीर्णता

असल बात यह है कि हमारी कामनाएँ और इच्छाएँ तो बहुत अच्छी हैं, परन्तु हम कभी गंभीरतापूर्वक इस पर विचार करने के लिए तैयार ही नहीं होते कि इन शुभकामनाओं की पूर्ति किस तरह हो सकती है ? स्वतन्त्रता के बाद नेताओं का परम कर्त्तव्य तो यह था कि वे इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करते कि अंग्रेज़ों के बोए हुए अथवा इस राष्ट्रभूमि से स्वयं फूटे हुए वे कौन-से अवगुण हैं जिनके उन्मूलन की ओर सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिए, और वे कौन-से सही उपाय हो सकते हैं जिनसे देश भविष्य में उन्नतिशील एवं कल्याणयुक्त हो सके । और इस सोच-विचार में न केवल यह कि वे अपने मन एवं मस्तिष्क को पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखते, बल्कि इस साहस के साथ विचार करते कि इन्हें अन्य देशों को भी संमार्ग दिखाना है । परन्तु इन पर गम्भीरतापूर्वक अथवा एकाग्रचित्त होकर विचार करने के स्थान पर उन्होंने प्रारम्भ ही में मानो यह निश्चित कर लिया कि भारत का संकट केवल अंग्रेज़ों का प्रभुत्व था और जहाँ तक उनके ज्ञान-विज्ञान,

कला-कौशल, सभ्यता-संस्कृति तथा शासन-विधि का सम्बन्ध है तो ये सब न केवल आवश्यक हैं वरन् सबका कल्याण इन्हीं में निहित है । अतः न केवल इनका शेष रहना ज़रूरी है बल्कि यथासम्भव इनकी उन्नति भी आवश्यक है; और अनुकरण की इसी लालसा में यहाँ एक ओर तो भारत को ज़ाहिरी तौर से यूरोप का एक भूखण्ड बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा और दूसरी ओर परिणाम पर ध्यान दिए बिना इस देश के लिए वही लादीनी (ऐहिक) जीवन-व्यवस्था ग्रहण कर ली गई जो यूरोप में प्रचलित है और जिसका कुछ अनुभव भारत में भी हो चुका था । यद्यपि वास्तव में अंग्रेज़ों का प्रभुत्व जितना घृणित था उससे कहीं अधिक घृणित उनकी सभ्यता तथा उनकी शासनविधि थी जिसने थोड़े ही समय में स्वयं इस देश को भी, जो कभी सदाचार एवं आध्यात्मिकता का घर रहा है, नैतिक दृष्टि से न्यूनतम कोटि का बना दिया है और जिसने पूरे संसार को दुराचारों से इस प्रकार भर दिया है कि मानवता, वास्तव में, इससे त्राहि-त्राहि करने लग गई है ।

ख़राबियों की जड़

यदि यह बात ठीक है कि मनुष्य के आचरण एवं कर्म उसके विचार एवं विश्वास की पैदावार हैं, विचार तथा विश्वास यदि बीज हैं तो कृत्य एवं आचरण उनके फल-फूल तो आप ही सोचें कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति और ऐहिक जीवन-व्यवस्था के फल क्या हो सकते हैं ?

पाश्चात्य जीवन-तत्व

यदि इस संसार का कोई स्रष्टा तथा स्वामी नहीं है जिसकी प्रसन्नता की प्राप्ति हमारी सारी वैयक्तिक तथा सामूहिक चेष्टाओं का लक्ष्य ठहरे और जब उसकी प्रदत्त कोई नैतिक व्यवस्था नहीं है, जिसको दृष्टि में रखकर व्यक्ति तथा जाति अच्छाई या बुराई का कोई फ़ैसला दे सके और जब अपने कर्मों का, किसी सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी सत्ता के समक्ष कोई उत्तर देना नहीं है, जिसका भय हमें सदाचारी बना सके, तो फिर आप ही बताएँ कि प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक जाति क्यों न अधिकाधिक इस संसार के मज़े लूटने का प्रयत्न करे, क्यों न वह नैतिक व्यवस्था अपनी रुचि एवं इच्छा के अनुसार बनाए और क्यों न अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का हक़ मारे? और कौन नहीं जानता कि इन्हीं धारणाओं तथा विचारों पर पाश्चात्य सभ्यता का भव्य भवन खड़ा है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अपनी अथवा दूसरों की प्रसन्नता के लिए ऐसे कार्य कर सकता है जो देखने में भले हों, किन्तु स्पष्ट है कि व्यक्तियों तथा जातियों

दोनों की प्रसन्नताएँ एक-दूसरे से भिन्न और प्राय: विरुद्ध होती हैं । इसलिए सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि प्रसन्नता को आचरण का लक्ष्य नियत किया जाए तो संसार अव्यवस्था, बिखराव, अनुशासनहीनता तथा उपद्रव से भर जाए ।

इसी प्रकार यदि प्रसन्नता के स्थान पर 'उत्कृष्टता' को प्रयत्नों का लक्ष्य ठहराया जाए तो चूँकि प्रसन्नता ही के समान 'उत्कृष्टता' के सम्बन्ध में भी मानवीय धारणाएँ एक-दूसरे से भिन्न तथा विरुद्ध हैं, अत: इसको लक्ष्य निश्चित करने का अंजाम भी वही होगा जो प्रसन्नता को लक्ष्य ठहराने का हो सकता है ।

कर्त्तव्य-परायणता के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों का नि:स्वार्थ पालन करते रहना भी जीवन का एक लक्ष्य बन सकता है, किन्तु क्या इस सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं होता कि ये कर्त्तव्य क्या हैं, किस प्रकार इन्हें निश्चित किया जा सकेगा और लोग उनके पालन पर बाध्य क्यों होंगे ?

ईश्वर से विमुख होने के पश्चात् यही वे चीज़ें हैं, जिनको लोग अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं । फिर क्या आप देख नहीं रहे हैं कि प्रसन्नता, उत्कृष्टता तथा कर्त्तव्यपरायणता की धारणाओं पर, दुर्भावना के अन्तर्गत नहीं, बल्कि बिलकुल नि:स्वार्थ होकर आचरण करने के क्या फ़ल संसार में दिखाई दे रहे हैं ? चोरों, डाकुओं, दुराचारियों आदि की तो चर्चा ही क्या जो प्राय: चोरी, डाका, अपहरण आदि जैसे अपराध प्रसन्नता ही के लिए करते हैं । शिक्षित वर्ग, सभ्य लोगों तथा नेतागण में यह बात देखी जाती है कि वे अपनी अथवा अपनी जाति की प्रसन्नता के लिए दूसरों को बड़ी से बड़ी क्षति पहुँचाने से भी नही चूकते । क्या आप भारत में रहते हुए इस तथ्य को अस्वीकार कर सकते हैं कि साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर एक मुसलमान अथवा एक ग़ैर मुस्लिम अपने विरोधी सम्प्रदाय के किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या करके प्रसन्नता अनुभव करता है और उसके सम्प्रदाय के कितने ही व्यक्ति उसपर प्रसन्नता प्रगट करते हैं ।

विचार कीजिए, ईश्वर का जीवन से बहिष्कार कर देने तथा प्रसन्नता एवं उत्कृष्टता को लक्ष्य नियत करने के पश्चात् मनुष्य का दृष्टिकोण अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक मामलों में कितना टेढ़ा हो गया और इसके क्या-क्या कुपरिणाम किन-किन रूपों में प्रकट हो रहे हैं ?

फिर सोचिए ईश्वर का जीवन से बहिष्कार कर देने का परिणाम केवल यही नहीं होता है कि मनुष्य के प्रयत्नों का कोई यथार्थ लक्ष्य शेष नहीं रहता, बल्कि 'भलाई-बुराई' को मालूम करने का साधन भी उपलब्ध नहीं रह जाता ।

इसमें संदेह नहीं कि अन्त:करण, बुद्धि एवं मानवीय अनुभव किसी न किसी

हद तक भलाई-बुराई मालूम करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं, लेकिन कौन नहीं जानता कि ज्ञान के ये साधन उस महान लक्ष्य के लिए कदापि पर्याप्त नहीं हो सकते । अन्तःकरण, केवल यही नहीं कि अधिकतर समस्याओं के समाधान में असमर्थ रहता है, बल्कि उसकी आवाज़ इतनी धीमी है कि प्रत्येक अवसर पर सुनी भी नही जा सकती और भिन्न परिस्थितियों एवं कालों में उसके निर्णय बहुधा एक-दूसरे से भिन्न भी होते हैं ।

यही दशा बुद्धि की भी है । यह सीमित तथा अपूर्ण भी है और साथ ही इच्छाओं और वातावरण से प्रभावित होनेवाली भी । इसलिए इस पर भी पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता। रहे मानवीय-अनुभव तो एक तो जब तक संसार की यह गाड़ी चलती रहेगी इन्हें सम्पूर्ण कहा नहीं जा सकता । कितने ही पिछले अनुभव हैं जिन्हें कालचक्र ने अब ग़लत ठहरा दिया है और यदि वे कुछ विश्वसनीय और भरोसे के लायक़ हों भी तो वे सम्पादित एवं संगृहीत रूप में कहाँ प्राप्त हैं कि लोग उनसे भलाई-बुराई मालूम करने में सहायता ले सकें ? और क्या यह तथ्य नहीं है कि आज विभिन्न लोग पिछले अनुभवों ही का नाम लेते हैं, किन्तु वे एक-दूसरे से भिन्न दिशाओं में चल रहे हैं ?

इसी प्रकार ईश्वर के समक्ष उत्तरदायी होने के विश्वास को त्याग देने के बाद कोई ऐसी वस्तु शेष नहीं रह जाती जो भलाई तथा सदाचार की संरक्षक बन सके । शासन एवं समाज को साधारणतया इसके लिए पर्याप्त समझा जाता है । यद्यपि यह उन व्यक्तियों ही का समूह है जिनके सम्मुख न कोई यथार्थ एवं निश्चित जीवन-लक्ष्य है और न भलाई-बुराई मालूम करने का कोई निश्चित नियम, और इनको जो भी शक्ति एवं अधिकार प्राप्त हैं, उनका सम्बन्ध मनुष्य के केवल प्रत्यक्ष से है, परोक्ष एवं अन्दरून पर इनका कोई अधिकार नहीं ।

तात्पर्य यह कि इन प्रश्नों पर यदि आप गंभीरतापूर्वक विचार करें तो आपको प्रतीत होगा कि ब्रह्माण्ड तथा उसके भीतर मनुष्य की स्थिति के बारे में जो धारणाएँ यूरोप ने प्रस्तुत की हैं उनको स्वीकार कर लेने के पश्चात् जीवन में नैतिकता एवं मानवता के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहता । अतः यूरोप और उससे प्रभावित राष्ट्रों में आज दुराचार एवं अनैतिकताओं की जो बाढ़ उमड़ पड़ी है, यह न समझिए कि वह कोई आकस्मिक दुर्घटना है, बल्कि इन धारणाओं के फलस्वरूप है । इसी तरह स्वयं हमारे देश की हालत भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से जो रोज़-बरोज़ बिगड़ती जा रही है, तो यद्यपि इसके कुछ स्थानीय कारण भी हैं, परन्तु वास्तव में यह अधिकतर यूरोप की इन्हीं ऐहिक धारणाओं के फलस्वरूप हैं । कम से कम इनका बाहुल्य तो इन्हीं के कारण है । इसलिए दो ही उपाय सम्भव हैं । (1)

या तो नैतिकता एवं सदाचार का नाम लेना छोड़ देना चाहिए और इसके जो-कुछ भी परिणाम हों उन्हें भोगने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। (2) या यदि इस आत्महत्या के लिए तैयार नहीं हैं तो फिर अत्यन्त गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है कि इससे मुक्ति का क्या उपाय है ? और इसके स्थान पर वह कौन-सी व्यवस्था हो सकती है जो हमारे लिए पूर्णतः उपयोगी तथा स्वीकार्य हो ? इस सम्बन्ध मे कुछ निवेदन करने से पहले, दो बातों की ओर मैं विशेषतया आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

बिना जाने इनकार

पहली बात यह कि आप यह न समझें कि यूरोप ने जो अनीश्वरवाद का मार्ग अपनाया, वह किसी ज्ञान अथवा तहक़ीक के बाद अपनाया है। यूरोप में अनीश्वरवाद के आरम्भ तथा उसकी प्रगति के कारणों का यदि आप ऐतिहासिक जायज़ा लें तो आपको मालूम होगा कि यह वास्तव में कुछ सामयिक-कारणों के फलस्वरूप है, और इसका सम्बन्ध ज्ञान से अधिक एक प्रतिशोध-युक्त भावना से जुड़ा हुआ है जो यूरोप के पुनरुत्थान के समय, अशुद्ध धार्मिकता को मनोरथ साधन बनानेवाले धार्मिक व्यक्तियों के अशुद्ध आचरण के कारण उस समय के वैज्ञानिकों तथा अन्वेषकों में उत्पन्न हो गई थी और यह भी न समझें कि अब भी ज्ञानात्मक दृष्टि से पूरा यूरोप इन धारणाओं से सहमत है। वहाँ बहुत-से ऐसे वैज्ञानिक पाए जाते हैं जो ज्ञान-विज्ञान में अनीश्वरवादियों से किसी प्रकार पीछे नहीं हैं; और ये लोग इन सिद्धान्तों एवं धारणाओं को ग़लत समझ रहे हैं; और उनकी ग़लतियाँ सिद्ध कर रहे हैं; और जहाँ तक इन सिद्धांतों के बुरे नतीजों का सम्बन्ध है, इनकी विनाशकारियाँ तो इतनी आम और स्पष्ट हैं कि इनके कारण स्वयं यूरोप में इन सिद्धान्तों तथा इन पर निर्धारित सभ्यता एवं संस्कृति से खुल्लम-खुल्ला घृणा तथा अप्रसन्नता का प्रदर्शन किया जा रहा है। यहाँ इतना मौक़ा नहीं कि इसका सविस्तार वर्णन किया जाए। केवल इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध दार्शनिक सी०एम० जोड के एक रेडियो भाषण का कुछ उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है। इससे आप अनुमान कर सकेंगे कि पाश्चात्य सभ्यता स्वयं यूरोप के वैज्ञानिकों की दृष्टि में क्या स्थान रखती है ? यूरोप तथा अमरिका में सभ्य एवं शिक्षित जातियों के हाथों स्वयं अपनी ही जाति के विरुद्ध हत्या तथा अपहरण का जो बाज़ार गर्म है और तुच्छ उद्देश्यों के लिए जन और धन जिस प्रकार नष्ट किए जा रहे हैं उसकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

"जब हम यह परिस्थिति देखते हैं तो इस सभ्यता एवं संस्कृति की उपयोगिता और अच्छाई पर से हमारा विश्वास जाता रहता है जिसको हमने केवल

इसलिए अपनाया था कि यह हमारे कल्याण का कारण होगी ।"

वे आगे कहते हैं—

"आख़िर इस सभ्यता एवं संस्कृति की उपयोगिता क्या है जिसको अपनाने के बाद भी मनुष्य अपनी जाति के लिए हिंसक सिद्ध होता है । आज के मनुष्य तथा असभ्य युग के मनुष्य में तो कोई अन्तर होना चाहिए । स्पष्ट है कि जो सभ्यता मनुष्य को अपनी जाति का सम्मान न सिखाए, जो मानवता के एक बड़े अंश के लिए बोझ और बेड़ी बन जाए उसका मिट जाना और मिटा देना ही उत्तम है ।"

सीमित धार्मिकता

दूसरी बात जो इस अवसर पर कहनी है, वह यह कि आप इस बात से सन्तुष्ट न हो जाएँ कि चूँकि भारत ने अभी धर्म का पूरे तौर पर बहिष्कार नहीं किया है, बल्कि लोग मस्जिद तथा मन्दिर के साथ अब भी अपना सम्बन्ध जोड़े हुए हैं । अतः यहाँ अधर्मवाद के वे अवगुण उत्पन्न न हो सकेंगे, जो अन्य देशों में जन्म ले चुके हैं । यह सन्तोष सर्वदा अज्ञानता के फलस्वरूप होगा । अधर्मवाद का प्रत्येक दशा में यही तात्पर्य नहीं है कि धर्म के लिए कोई गुंजाइश ही न छोड़ी जाए । जिन देशों में अधर्मवाद प्रचलित है वहाँ भी धर्म को केवल जीवन के साधारण कामकाज से बहिष्कृत किया गया है, परन्तु मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की सीमाओं में उसे बाक़ी रहने की अनुमति दी गई है । और इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से लोग धर्म को मान रहे हैं और अपने वैयक्तिक जीवन में उसकी मर्यादाओं के अतिक्रमण से यथासम्भव बच रहे हैं, परन्तु यह धार्मिकता बुराइयों के दमन अथवा उन्मूलन में कुछ भी सहायता न कर सकी । इसलिए आप यह देखकर कि लोग अपने वैयक्तिक जीवन में परम्परागत पूजा-पाठ करते रहते हैं, कदापि सन्तुष्ट न हो जाएँ कि इसके कारण वे ख़राबियाँ जन्म न ले सकेंगी जो अधर्मवाद की देन हैं । यह प्रश्न कि इस प्रकार की धार्मिकता को कहाँ तक धार्मिकता का नाम दिया जा सकता है, एक अलग प्रश्न है । यहाँ विषय से संबद्ध केवल इस बात पर विचार करना है कि जब हमारे जीवन के सारे काम-काज ईश्वर से विमुख होकर होने लगें और इसी का प्रचार भी हो, तो धर्म के साथ वह वैयक्तिक सम्बन्ध, जीवन पर कितना प्रभाव डाल सकता है और बाक़ी भी रह सकता है या नहीं ? हम चाहते हैं कि इस प्रश्न पर केवल काल्पनिक दृष्टि से विचार करने के बजाए आप तथ्यों के प्रकाश में विचार करें । क्या यह तथ्य नहीं है कि धर्म के साथ यह वैयक्तिक सम्बन्ध भी दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है और जो लोग इस समय धार्मिक हैं वे

स्वयं इसी अधार्मिकता के सैलाब में बहते नहीं चले ज़ा रहे हैं ?

सही जीवन-व्यवस्था

अब आइए हम इस प्रश्न पर विचार करें कि यूरोप की अनीश्वरवादी जीवन-व्यवस्था के मुक़ाबलें में, जिसकी ख़राबियों की अब तक समालोचना की गई है, वह जीवन-व्यवस्था क्या हैं जो सही भीं हो और हमारे लिए सर्वथा उपयोगी भी। इस व्यवस्था का कुछ वर्णन करने से पूर्व मैं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि यह व्यवस्था बहुत-से लोगों की दृष्टि में शायद नई हो, किन्तु यह नई कदापि नहीं है। यही संसार की सब से प्राचीन व्यवस्था है और संसार में अनेक बार इसका तजुर्बा हो भी चुका है और यह हमेशा सफल भी सिद्ध हुई है। स्वयं इस देश के भी बहुत-से महापुरुष प्राचीन काल में इसके नामलेवा रह चुके हैं और अब भी यह देश ऐसे लोगों से ख़ाली नहीं है। अभी थोड़े दिन हुए इस देश के एक योग्य व्यक्ति डा० राधाकृष्णन ने लन्दन में एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने एक सेक्यूलर स्टेट के उप-राष्ट्रपति होते हुए भी संसार को वर्तमान वादों (इज़्मों) के स्थान पर एक नए दृष्टिकोण से अपनी समस्याओं के समाधान का निमंत्रण दिया, और यह दृष्टिकोण धार्मिक दृष्टिकोण है। हमें कुछ विस्तार से मालूम नहीं कि डा० महोदय का विचार धार्मिक दृष्टिकोण के बारे में वस्तुतः क्या है ? हो सकता है कि विवरण में, या बहुत-से बुनियादी सिद्धांतों में भी वह हमसे कुछ भिन्न मत रखते हों, परन्तु उनके इस परामर्श का संकेत उसी ओर है जिस ओर हम बुलाते हैं। अतः मैं जो कुछ निवेदन करूँगा उसपर इस दृष्टि से विचार न करें कि यह कोई नया दृष्टिकोण है और न ही यहाँ के ग़ैर मुस्लिम इसकी केवल इसलिए उपेक्षा करें कि आज इसका निमंत्रण देनेवाले मुसलमान हैं।

ब्रह्माण्ड के विषय में सही दृष्टिकोण

पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की जो समालोचना की गई है उससे आपने यह अनुभव किया होगा कि इसकी असली ख़राबी यह है कि इसमें ब्रह्माण्ड की वास्तविकता और उसके भीतर मनुष्य की हैसियत को ठीक-ठीक समझा नहीं गया है। इससे आप ख़ुद समझ सकते हैं कि सही जीवन-व्यवस्था वही हो सकती है जिसमें यह बुनियादी ख़राबी न हो। अर्थात् वह इस प्रश्न के ठीक उत्तर पर आधारित हो कि ब्रह्माण्ड क्या है ? और इसके भीतर मनुष्य की स्थिति क्या है ?

मैं सबसे पहले प्रमाण दिए बिना, उस सही उत्तर की कुछ स्थूल रूप-रेखा एक विशेष क्रम से प्रस्तुत करता हूँ। यदि उन्हें सुनकर आपका दिल गवाही दे कि सही

उत्तर यही है, और आप यह भी अनुभव करने लगें कि इसी के द्वारा संसार की वर्तमान समस्याओं का समधान भी सम्भव है और इसी को अपनाने में हमारा वास्तविक कल्याण और भलाई निहित है तब तो किसी दलील की आवश्यकता नहीं क्योंकि किसी उत्तर के सही होने की सर्वश्रेष्ठ दलील यही है कि विवेक तथा अन्तरात्मा इससे सन्तुष्ट हो सकें और प्रत्येक समस्या अपने स्थान पर ठीक-ठीक बैठ जाए अन्यथा इसके पश्चात् दलीलों पर भी वार्ता हो सकती है ।

इस उत्तर में पाश्चात्य कल्पनाओं के विरुद्ध, तीन बातें बुनियाद की हैसियत रखती हैं—

पहली बात यह कि यह ब्रह्माण्ड भी सृष्टि है और इसके भीतर मनुष्य भी । और इन सबका एक स्रष्टा भी है । स्रष्टा होने के नाते वही इनका यथार्थ स्वामी है, जिसको अधिकार है कि वह ब्रह्माण्ड तथा मानवमात्र पर शासन करे और सृष्टि के लिए यही शोभनीय है कि यदि वह अधिकार-रहित है तो विवश होकर और यदि किसी मात्रा में अधिकार-युक्त है तो अपनी इच्छा से, अपने सम्पूर्ण जीवन में उसका ही आज्ञापालन तथा उसकी बन्दगी करे ।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर जब स्रष्टा एवं स्वामी है और मनुष्य की असल हैसियत यही है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन में उसका आज्ञापालन करे तो यह नहीं हो सकता कि उसके ऐसे कृपालु स्रष्टा ने, जिसकी कृपाशीलता ने अपनी सृष्टि को प्रत्येक जीवन-सामग्री प्रदान की, जीवन व्यतीत करने के ढंग तथा अपनी आज्ञापालन के नियम न बताए होंगे, जबकि बज़ाहिर मनुष्य इसका मोहताज भी है और उसको अन्तःकरण तथा विवेक की जो ताक़त प्राप्त है वह इस मक़सद के लिए अपर्याप्त भी है । दूसरे शब्दों में इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार स्रष्टा एवं स्वामी के भेजे हुए आदेश को स्वीकार करना ज़रूरी है; जो विदित है कि मनुष्यों ही के द्वारा मानवमात्र को पहुँच सकते हैं । अतएव ईशदूतों का एक क्रम स्वीकार करना भी आवश्यक है ।

तीसरी बात यह कि जब इस विश्व का एक स्रष्टा तथा स्वामी है और उसने मानव को इस दुनिया में आज्ञा-पालन ही के लिए पैदा किया है और इसके लिए उसने आदेश भी प्रदान किए हैं तो अनिवार्यतः एक ऐसा दिन आना चाहिए जिसमें इस बात का फ़ैसला किया जाए कि उसने किस हद तक स्वामी का आज्ञापालन एवं बन्दगी उसके आदेशानुसार की है; और वह दिन अवश्य ही इस दुनिया के बाद ही आना चाहिए जबकि इस विश्व में रहनेवाले व्यक्तियों तथा जातियों का पूरा कार्यकलाप इस रंगमंच पर समाप्त हो जाए ।

परिणाम

इस दूसरे दृष्टिकोण के मौलिक आधारों को दृष्टि में रखकर यदि विचार करें तो आपको अनुभव होगा कि इन आधारों पर वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन का जो ढाँचा तैयार होगा वह उस ढाँचे से कितना विभिन्न होगा जो पाश्चात्य कल्पनाओं से तैयार होता है ।

सबसे पहले प्रथम आधार को लीजिए । ईश्वर को अपना तथा ब्रह्माण्ड का स्रष्टा स्वीकार कर लेने के बाद मनुष्य का सिर न तो किसी पत्थर, पेड़, पहाड़ अथवा सूर्य, नक्षत्र-चन्द्रमा के सामने झुक सकता है और न किसी अपने जैसे मनुष्य के समक्ष । अतः उसको आदर-सम्मान का वह पद प्राप्त होता है, जो अन्य किसी धारणा के अन्तर्गत असम्भव है । और आप कदापि यह विचार न करें कि पाश्चात्य धारणाओं ने मनुष्य को ईश्वर की चौखट से हटाकर उसको सांसारिक सत्ताओं तथा अन्य मनुष्यों के सामने नतमस्तक होने से बचा लिया है । विभिन्न सत्ताएँ अब भी उसपर शासक हैं और मनुष्य अब भी किसी न किसी रूप में, मनुष्य ही का दास है, भले ही वह तानाशाही के रूप में हो अथवा जनतन्त्र के रूप में ।

ईश्वर को मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड का स्रष्टा स्वीकार कर लेने का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि वंश, वर्ण तथा भाषा एवं भौगोलिक सीमाओं के आधार पर मनुष्यों में जो परस्पर भेद-भाव उत्पन्न हो गए हैं इससे उनका स्वतः निषेध हो जाता है । ज़ब सब का स्रष्टा एक ही है और सारे मनुष्य एक ही वंश से सम्बन्ध रखते हैं तो इनमें उन आधारों पर भेदभाव का कोई उचित कारण नहीं हो सकता ।

फिर इस कल्पना के साथ इनमें परस्पर प्रेम, सहयोग तथा बन्धुत्व का सम्बन्ध पैदा होता है जो किसी अन्य कृत्रिम विधि से पैदा नही हो सकता, और मनुष्य ही के साथ नहीं बल्कि अन्य रचनाओं के साथ भी उनके व्यवहार की नीति बदल जाती है ।

इसका एक बड़ा लाभ यह भी है कि मनुष्य अपनी जिन शक्तियों एवं योग्यताओं तथा धन सम्पत्ति का मालिक है वह वास्तव में अपने को उनका मालिक नहीं समझता, बल्कि न्यासी (ट्रस्टी) समझता है । अतः वह ईश्वर की इस अमानत को उसी की इच्छा के अनुसार उपयोग करना अपना कर्त्तव्य जानता है ।

ईश्वर को स्वामी मान लेने के बाद मनुष्य का स्वेच्छापूर्ण तथा उत्तरदायित्वहीन आचरण बिलकुल बदल जाता है । व्यक्तिगत रूप में उसकी सारी शक्तियाँ और योग्यताएँ स्वामी की इच्छा के अनुसार इस्तेमाल होती हैं; और जब ऐसे व्यक्तियों से कोई समूह बनता है, तो वह भी किसी प्रकार कोई स्वेच्छाचारी तथा उत्तरदायित्व

रहित नीति नहीं अपना सकता । ये दोनों अपने को ईश्वर के अधीन एवं दास समझकर उसके आज्ञापालन ही को अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं, और यह आज्ञापालन जीवन के किसी ख़ास हिस्से तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वैयक्तिक तथा सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक विभाग—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों एवं परिस्थितियों पर फैला होता है ।

अब दूसरे आधार को लीजिए । यह आप पहले सुन चुके हैं कि ईश्वर के आदेश से विमुख हो जाने के बाद न तो भलाई-बुराई के परखने की कोई कसौटी बाक़ी रह जाती है और न इसके जानने का कोई विश्वस्त सूत्र बाक़ी रहता है और न ही इसको स्थिर रखने के लिए प्रभावशाली साधन अथवा प्रेरक बचते हैं । इसके विपरीत ईश्वर-प्रदत्त जीवन-व्यवस्था को अंगीकृत कर लेने के बाद कसौटी भी स्वतः निश्चित हो जाती है और साधना भी । और चूँकि यह आदेशपत्र स्रष्टा एवं स्वामी का दिया हुआ है, जिसका आज्ञापालन वह जी-जान से करना चाहता है, अतः स्वयं उसके अन्दर से इस व्यवस्था के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है, जो समाज एवं शासन के भय की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली है ।

ईश्वर के आदेश तथा उसके संदेष्टाओं को मानने का यह तो वह लाभ है जो नैतिकता के विषय में प्रथम चरण पर ही महसूस किया जा सकता है । परन्तु जो लोग नैतिक शास्त्र की जानकारी रखते हैं वे जान सकते हैं कि नैतिक-शिक्षा को जब तक व्यावहारिक जीवन के समस्त विभागों में प्रयोग करके दिखला न दिया जाए, आमतौर से न तो लोग उन्हें समझ सकते हैं और न उनके भीतर इनको अंगीकृत करने की प्रेरणा जागृत होगी । इस दृष्टि से आप देखें तो महान ईश-दूतों की नियुक्ति तथा उनके आचरण संसार के लिए कितनी अमूल्य वस्तुएँ हैं और उनमें भी विशेषतः अन्तिम सन्देष्टा हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) का चरित्र, जो जीवन के समस्त विभागों पर प्रकाश डालता है, और साथ ही साथ यह पूरे तौर पर शुद्ध रूप में सुरक्षित भी है ।

अब तीसरे आधार अर्थात् अन्तिम दिवस (आख़िरत) के न्याय पर विश्वास को लीजिए । ऊपर बयान की गई दोनों आधारों की जो अच्छाइयाँ गिनाई गई हैं उनका पूरक एवं परिशिष्ट यही सिद्धान्त है । उस दिन अपने प्रत्येक कर्म का उत्तर देने का विश्वास ही, उत्तरदायित्व की यथार्थ अनुभूति उत्पन्न करता है और इसी के फलस्वरूप मनुष्य का व्यक्तिगत तथा सामूहिक आचरण दुरुस्त रहता है और उसमें वह प्रेरणा जागृत होती है जिसको न तो इच्छाएँ प्रभावित कर सकती हैं और न कठिनाइयाँ अथवा असफलताएँ ।

ये हैं उस ईश्वरवादी जीवन-व्यवस्था के वे लाभ जो संक्षेप में आपके सम्मुख प्रस्तुत किए गए हैं । यदि एक ओर आप इन्हें रखें और दूसरी ओर अनीश्वरवादी जीवन-व्यवस्था के उन परिणामों को, जिनकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है, तो आप स्वयं अनुमान कर लेंगे कि इनमें कौन स्वीकार करने योग्य है और किससे मानव की समस्याओं का समाधान संभव है ।

परन्तु यहाँ पर एक और बात की ओर संकेत करना आवश्यक है, और वह यह है कि हमने अब तक इन दोनों जीवन-व्यवस्थाओं के केवल स्थूल (मोटे-मोटे) सिद्धान्त सामने रखकर इनमें तुलना की है । इन दोनों व्यवस्थाओं के इन स्थूल सिद्धान्तों पर जीवन के अत्यन्त विशाल व्यावहारिक ढाँचे बनते हैं । इन दोनों व्यवस्थाओं के पारस्परिक विभेद का पूर्ण अनुमान लगाने के लिए आपको इन दोनों के विस्तृत व्यावहारिक रूप को सामने रखना चाहिए ।

आपको मालूम है कि अनीश्वरवाद केवल एक कल्पना ही नहीं है और न इसके प्रभाव जीवन के किसी विशेष विभाग तक सीमित ही हैं, बल्कि जीवन के तमाम विभाग इनसे प्रभावित हो चुके हैं और उसके आधार पर प्रत्येक जीवन-विभाग के सम्बन्ध में स्थायी चिन्तन व्यवस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं । यह जनतन्त्र, यह तानाशाही और अन्त में यह समाजवाद अथवा साम्यवाद, ये सब इसी अनीश्वरवादी कल्पना ही के फलस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं, और आपको शायद यह मालूम होगा कि इन व्यवस्थाओं ने संसार को किस प्रकार के फल दिए हैं ।

इसी प्रकार यदि धार्मिक जीवन-व्यवस्था को भी इसके उन प्रभावों एवं परिणामों के प्रकाश में जाँचें, जो विभिन्न विभागों में अपना प्रभाव दिखाते हैं तो आपको इनका भी अनुमान हो जाएगा कि ये कितने विस्तृत, घनिष्ट, उपयुक्त एवं कल्याणकारी हैं । तथ्य यह है कि हमारी समस्याएँ, भले ही वे राजनीतिक हों अथवा आर्थिक या सामाजिक, वे मूलत: इस प्रश्न से सम्बद्ध हैं कि विश्व तथा उसके भीतर मनुष्य की स्थिति के विषय में हमारा दृष्टिकोण क्या है ? यदि यह दृष्टिकोण ग़लत है तो जीवन के जिस विभाग के बारे में भी कोई व्यवस्था सोची जाएगी वह ग़लत होगी, क्योंकि जिन आधारों पर वह निर्धारित होगी वे स्वयं ग़लत हैं । और यदि वे सही हैं तो फिर इनकी नींव पर जो कुछ निर्मित होगा, वह सही ही होगा, जनतन्त्र, समाजवाद आदि वादों की समस्त ख़राबियों की असल वजह यही है कि इनमें राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान इस कल्पना के अन्तर्गत सोचा गया है कि मनुष्य इस विश्व में स्वच्छन्द और स्वतन्त्र है और जीवन केवल इसी दुनिया ही का जीवन है और मनुष्य की मूलभूत समस्या केवल आर्थिक समस्या

है ।

राष्ट्रीय समस्याएँ तथा उनका समाधान

इस व्याख्या की रौशनी में आप विचार करें कि भारत की जिन समस्याओं का समाधान तुरन्त होना चाहिए क्या उनका एकमात्र शुद्ध एवं सन्तोषजनक समाधान, इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण में निहित नहीं है ? नैतिक बुराइयों का उन्मूलन तो इसके बिना संभव ही नहीं है और आर्थिक संकट भी ज़्यादातर इन्हीं नैतिक बुराइयों के फलस्वरूप है । अत: उनका समाधान भी वस्तुत: इस पर ही निर्भर है । रही बिखराव और अनुशासनहीनता की बढ़ती हुई रुचि, जो राजनैतिक दृष्टिकोण से देश के लिए एक भीषण ख़तरा है, तो इसका समाधान भी एकेश्वरवाद तथा मानवता के एकत्व के बिना संभव नहीं है । इस पर आप भली-भाँति विचार कर लें ।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ

मैंने अब तक अपनी वार्ता को अधिकतर राष्ट्रीय समस्याओं तक सीमित रखा है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें केवल अपनी राष्ट्रीय समस्याओं ही से सम्बन्ध रखना चाहिए ।

पहली बात तो यह है कि अपने दृष्टिकोण को किसी एक जाति अथवा राष्ट्र तक सीमित रखना वास्तव में अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण है, जिसका ईश्वरवादी दृष्टिकोण से कोई मेल ही नहीं, क्योंकि वह जाति एवं राष्ट्र की सीमाओं से उच्चतर विश्वव्यापी बन्धुत्व का दृष्टिकोण है । और दूसरे यह तथ्य भी है कि यदि पहले किसी युग में यह सम्भव भी रहा हो कि कोई जाति अथवा राष्ट्र अपनी समस्याओं को अन्य जातियों तथा राष्ट्रों से विलग कर सके और अलग करके ही उनका समाधान करे, तो अब तो यह किसी प्रकार सम्भव नहीं रहा । ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ने राष्ट्रों को समीप कर दिया है । संसार के विभिन्न भाग परस्पर घर-आंगन का सम्बन्ध रखते हैं । एक राष्ट्र भले ही वह छोटा हो अथवा बड़ा, उसकी प्रत्येक बुरी-भली हालत का अन्य राष्ट्रों की हालत पर प्रभाव पड़ रहा है । इसलिए स्वयं अपने राष्ट्र की समस्याओं के समाधान हेतु भी संसार की समस्याओं को दृष्टि मे रखने की आवश्यकता है ।

संसार की समस्याओं में कुछ तो प्रत्येक राष्ट्र की अपनी आन्तरिक समस्याएँ हैं जो लगभग इसी देश की समस्याओं की तरह हैं । इसके विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है । इनके उत्पन्न होने के भी वही कारण हैं जिनकी चर्चा अपने देश

भारत के सम्बन्ध में हो चुकी है । अतः जिस समाधान की ओर संकेत मैंने यहाँ की समस्याओं के विषय में किया है वही समाधान उन राष्ट्रों की इस प्रकार की समस्याओं का भी हो सकता है ।

दूसरी वे समस्याएँ हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाता है । हममें से सब जानते हैं कि आज इनमें शान्ति, स्वतन्त्रता और मानव अधिकारों का प्रश्न अधिक महत्व रखता है जिसको वंशीय गर्व, आर्थिक लालसा तथा कुछ राष्ट्रों के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण आघात पहुँच रहा है और इसी कारण पिछले दोनों भीषण महायुद्ध घटित हुए और द्वितीय महायुद्ध की भीषणता से मुक्त होते ही अब तृतीय महायुद्ध के बादल सिरों पर मंडलाते दीख पड़ रहे हैं ।

संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.)

यह परिस्थिति सबके लिए शोचनीय है । किन्तु प्रश्न यह है कि इससे मुक्ति कैसे प्राप्त की जाए ? क्या इस सम्बन्ध में यू०एन०ओ० से कोई आशा की जा सकती है, जिसने आज तक किसी एक समस्या को भी सुलझाया नहीं है बल्कि और उलझा दिया है ? भारत के तत्वविचारक डा० राधाकृष्णन इस सम्बन्ध में कुछ आशान्वित प्रतीत होते हैं और संभवतः यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को प्रस्तुत करने तथा संसार को आध्यात्मिक साधन ग्रहण करने का निमंत्रण देने के लिए उन्होंने यूनेस्को का प्लेटफ़ार्म चुना है । परन्तु हमारी बुद्धि में यह बात नहीं आती कि जब लोगों के मस्तिष्क में यह बात बैठी हुई है कि प्रत्येक जाति अथवा राष्ट्र दूसरे से अलग है, और सही तथा न्यायसंगत वही है जिसमें कोई जातीय अथवा राष्ट्रीय स्वार्थ निहित हो तो वह डा० साहब के इस तत्व की प्रशंसा कैसे कर सकते हैं कि "विश्वव्यापी राष्ट्रीयता की भक्ति तथा राष्ट्रभक्ति में कोई विरोध नहीं है । संकीर्ण एवं आक्रमणकारी राष्ट्रभक्ति गुज़री हुई यादगार है । हमें इसके ख़ोल से बाहर आना चाहिए और एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सम्मिलित होना चाहिए जो भविष्य में आशाओं का केन्द्र है ।" और इन लोगों ने जब मानवता के एकत्व के सिद्धान्तों की उपेक्षा की है और इस सांसारिक जीवन ही को सब कुछ समझ लिया है जिसके स्वार्थों की सिद्धि में कोई नैतिक नियम सामने नहीं है तो वे यह दीक्षा किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगे जिसका उन्होंने निमन्त्रण दिया है— "जो लोग राजनीतिक प्रभुत्व, आर्थिक लालसा तथा वंशीय गर्व में लीन हैं उनको इससे मुक्त किया जाएगा ।" या यह संस्था किस प्रकार इसे अपना कर्तव्य समझ सकती है कि "इसका कर्त्तव्य केवल इतना ही नहीं है कि वह शान्ति-कामना की वृद्धि करे बल्कि उसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने की वे भावनाएँ भी जाग्रत

करनी चाहिएँ जो शान्ति, स्वतन्त्रता तथा मानव अधिकारों को स्थापित करें ।"

यदि इन आदर्शों की प्राप्ति अभीष्ट है तो इसके लिए ज़रूरी है कि सर्वप्रथम उस अनीश्वरवादी सभ्यता एवं संस्कृति का ख़ात्मा हो जिसने संसार की यह दुर्दशा कर दी है । उसके बाद एक पवित्र जीवन-व्यवस्था उसके स्थान पर स्थापित की जाए, और यह पवित्र व्यवस्था अनिवार्यतः धर्म ही के आधार पर स्थापित हो सकती है । जब तक यह न होगा स्वप्न स्वप्न ही रहेगा ।

धर्म की ग़लत कल्पनाएँ

लेकिन ख़याल रहे कि आज संसार को जिस ईश्वरवादी जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता है उसके लिए उन ग़लत धार्मिक कल्पनाओं को आधार नहीं बनाया जा सकता जिन्हें इस युग का मस्तिष्क कदापि स्वीकार नहीं कर सकता, और न वे कल्पनाएँ ही कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं जिनमें स्वयं वंश, वर्ण का भेदभाव उत्पन्न करने अथवा स्रष्टा एवं स्वामी की स्वीकृति को अस्वीकृति में परिवर्तित करने की प्रवृति विद्यमान हो । इस मक़सद के लिए वस्तुतः एकेश्वरवाद, मानवीय एकत्व तथा स्थायी नीति पर आश्रित जीवन व्यवस्था ही उपयोगी हो सकती है, और हमें विश्वास है कि यही मूल सिद्धान्त सत्य-धर्म के आधार रहे हैं, भले ही इंसानों ने घटा-बढ़ाकर उसका रूप परिवर्तित कर दिया हो ।

इस उद्देश्य के लिए इस बात की भी आवश्यकता है कि धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में स्वयं धर्म पर व्यक्तियों के भ्रम को दूर किया जाए क्योंकि भ्रमवश स्वयं ऐसे व्यक्ति सत्य जीवन-व्यवस्था की स्थापना में बाधक हो रहे हैं । इस सम्बद्ध में दो बातें ख़ास तौर पर विचारणीय हैं :–

1. ब्रह्मचर्य एवं संन्यास

धर्म को माननेवाले व्यक्तियों में एक बड़ी संख्या ऐसों की है जिनका विचार है कि यदि वास्तव में मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करना है तो वह संसार छोड़कर संन्यास ले ले । क्योंकि मानवीय सम्बन्ध ईश्वर-भक्ति तथा ज्ञान-ध्यान में बाधा डालते हैं और सांसारिक मामलों में भाग लेने से आत्मा ग़लत हो जाती है, जबकि आत्मा की शुद्धि धर्मात्मा बनने के लिए आवश्यक है ।

हमारी दृष्टि से यह कल्पना मूलतः ग़लत है और इस कल्पना का परिणाम केवल यही हो सकता है कि यह पृथ्वी पाप और अन्याय से भर जाए । भले लोग तो पहाड़ और जंगल की राह ले लें और संसार पर पापियों का प्रभुत्व हो जाए ।

मनुष्य में विभिन्न शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की उपस्थिति इस बात की साक्षी है कि संन्यास एवं ब्रह्मचर्य अप्राकृतिक हैं। उदाहरण स्वरूप काम-वासना सम्बन्धी पहलू ही को देखिए । यदि इसकी अपेक्षाओं की पूर्ति न की जाए तो इसका परिणाम स्वयं उस व्यक्ति के लिए तथा सम्पूर्ण समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होगा, क्योंकि यह एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति हेतु विधाता ने एक नियम बना दिया है । अतः इतिहास तथा रोज़ाना की घटनाएँ साक्षी हैं कि जब कभी संन्यास अथवा ब्रह्मचर्य के दृष्टिकोण को अपनाया गया, उसकी भीषण प्रतिक्रिया भयंकर पापों के रूप में प्रगट हुई है । फिर यह दृष्टिकोण न केवल मनुष्य की बनावट ही के, बल्कि स्वयं ब्रह्माण्ड की बनावट के भी प्रतिकूल है । यहाँ की प्रत्येक वस्तु जैसा कि विदित है, मनुष्य ही के उपयोग के लिए बनाई गई है । यदि मनुष्य इन्हें प्रयोग न करे और इनसे लाभ न उठाए तो इनके पैदा करने का कोई फ़ायदा ही नहीं रहता । फिर व्यवहारतः भी यह असम्भव है । इतने जंगल और पहाड़ कहाँ हैं जहाँ जाकर लोग संसार को त्याग दें । इस अवस्था में जंगल और पहाड़ ही संसार बन जाएँगे और सारा संसार उजाड़ हो जाएगा ।

और फिर, फलतः इस दृष्टिकोण का सबसे बड़ा दोष यह है कि आध्यात्मिकता एवं सांसारिकता के मार्ग एक-दूसरे से सर्वथा अलग हो जाएँगे । आध्यात्मिकता के प्रेमी तो संसार से विलग होकर अपनी आत्मा के निखार में लग जाएँगे और जो इसका अवलम्बन न कर सकेंगे वे आध्यात्मिक जीवन की ओर से निराश होकर सांसारिकता में अधिकाधिक लिप्त हो जाएँगे । इसका परिणाम यही हो सकता है कि पृथ्वी अत्याचार से भर जाए और भले लोग इससे घबराकर उसी अप्राकृतिक जीवन की शरण लेने पर बाध्य हो जाएँ ।

इस विषय में उचित दृष्टिकोण, जो उन सिद्धान्तों के अन्तर्गत समझ में आता है, जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है, केवल यह है कि मनुष्य इस संसार को जेलख़ाना नहीं बल्कि परीक्षालय समझे और यहाँ की प्रत्येक चीज़ को अपना शत्रु नहीं बल्कि सेवक समझे और अपनी भौतिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों को व्यर्थ, बेकार अथवा आध्यात्मिक विकास में बाधक समझने के स्थान पर उन्हें ईश्वरप्रदत्त निधि तथा ऐसा पुरस्कार समझे जिसका उद्देश्य यह है कि उन्हें ईश्वर की इच्छा के अनुसार प्रयोग किया जाए और इनके उचित उपयोग ही को परीक्षा में अपनी सफलता समझे ।

2. धर्म एक वैयक्तिक विषय है

दूसरी ग़लत कल्पना, जो धर्म के विषय में आम हो रही है, यह है कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है तो अवश्य परन्तु केवल उसके वैयक्तिक जीवन

से है । बाक़ी के सम्बन्ध में मनुष्य स्वतन्त्र है । वह जिस प्रकार चाहे बुद्धि, अनुभव तथा हित के प्रकाश में इसे व्यतीत करे । यह दृष्टिकोण यूँ तो प्रत्येक युग में किसी न किसी दर्जे में पाया जाता रहा है, परन्तु ऐहिकता की धारणा ने वर्तमान युग में इसको लगभग पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है । हम यह देखकर चकित रह जाते हैं कि बड़े-बड़े धर्मज्ञ भी आज इस धारणा से प्रभावित होकर कुछ इसी भाँति सोचने लगे हैं, यद्यपि इस धारणा का ग़लत होना विदित है । यदि वास्तव में ईश्वर है तो सम्पूर्ण जीवन का स्रष्टा एवं स्वामी वही है । अतएव सिद्धान्ततः जीवन के प्रत्येक विभाग में उसी का आज्ञापालन तथा उसी के आदेशों का अनुवर्तन होना चाहिए । किसी अंश को उससे विलग करना न तो तर्कसंगत है और न वास्तविकता के अनुकूल ही है । स्वामी कोई हो और आज्ञापालन किसी अन्य का किया जाए, इससे बड़ा अन्याय और क्या हो सकता है ? फिर इस पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि जीवन को दो विरोधी पक्षों में विभाजित करने का परिणाम क्या होगा ? इनमें या तो संघर्ष होता रहेगा, जिसके फलस्वरूप जीवन में बिखराव और अव्यवस्था उत्पन्न होगी या फिर अधर्म प्रधानता प्राप्त कर लेगा; क्योंकि वह तरह-तरह के शस्त्रों से सशस्त्र है और फलतः धर्म पराजित होकर रहेगा ।

सारांश यह है कि इस समय संसार को जिस प्रकार की भी आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं से पाला पड़ रहा है, उनका ठीक समाधान वास्तव में इस बात पर निर्भर करता है कि संसार अपने को पाश्चात्य अधार्मिकता के आधिपत्य से मुक्त करके पुनः अपने मूल की ओर लौटे, अपने स्रष्टा एवं स्वामी को पहचाने, अपने को उसका अधीन तथा दास समझे और अपना सम्पूर्ण जीवन उसके प्रदत्त आदेशों के साँचे में ढालकर उसकी सच्ची प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रयत्न करे ।

सच्ची सफलता

मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस धार्मिक दृष्टिकोण की ओर केवल इसलिए लौटना नहीं है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान इसी पर आश्रित है, बल्कि हमारे लिए ठीक राह यही हो सकती है, भले ही यह समस्याएँ सुलझें अथवा न सुलझें, और इसका परिणाम जो कुछ भी हो; क्योंकि जब हम जानते हैं कि इस संसार का एक स्रष्टा एवं स्वामी है और हम उसके दास हैं और यह संसार प्रतिफल प्राप्ति का स्थान नहीं बल्कि कार्यक्षेत्र अथवा परीक्षालय है, और हमें एक दिन ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर अपने सारे कर्मों का उत्तर देना है, तो हमें प्रत्येक अवस्था में केवल उसकी प्रसन्नता प्राप्ति को लक्ष्य बनाना चाहिए । यदि इसके फलस्वरूप वह हमें संसार में भी सुख-शांति एवं हित-कल्याण

के उपभोग का अवसर दे, तो यह उसकी कृपा होगी । और हमें इसकी आशा रखनी चाहिए, क्योंकि उसने यह वचन दिया है । किन्तु यदि किसी कारण वह ऐसा न करे तो हमारे लिए यह उचित नहीं हो सकता कि हम अपनी असल सफलता का यह मार्ग त्याग दें । संसार की सफलता चाहे छोटी हो अथवा बड़ी, है क्षणिक और वक़्ती । और वास्तविक एवं स्थायी सफलता तो केवल परलोक की सफलता है और आख़िरत ही उत्कृष्ट तथा अनश्वर है ।

जमाअते इस्लामी की दावत

अब तक आपकी सेवा में जो कुछ निवेदन किया गया है उससे आपको मालूम हुआ होगा कि जीवन के विषय में दो दृष्टिकोण हैं, एक वह जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति प्रस्तुत करती है और उसी पर उसकी नींव है; और दूसरा वह जिसको धर्म प्रस्तुत करता है और जिसका निमंत्रण प्रत्येक जाति एवं प्रत्येक देश में सर्वदा वे लोग देते रहे हैं, जो मानवता के सुगन्धित पुष्प थे और जिनका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है । इस दृष्टिकोण के अनुसार जब भी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आचरण का कोई नमूना सामने आया है, भले ही वह कितना ही सीमित अथवा तुच्छ क्यों न रहा हो, मानवता का हित एवं कल्याण ही होता रहा है । जमाअते इस्लामी, जिसके पैग़ाम का मुझे स्पष्टीकरण करना था, इसी दूसरे दृष्टिकोण का निमंत्रण देती है । यही इसकी स्थापना का असल मक़सद और उसकी चेष्टाओं का एक मात्र केन्द्र है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सन् 1941 ई० से, अर्थात् जब से वह स्थापित हुई है, अब तक क्या कुछ किया है, इस पर वार्ता के लिए समय चाहिए । इसकी बहुत कुछ तफ़सील इसकी रूदादों से मालूम की जा सकती है और यदि आपने क़य्यिमे जमाअत (संस्था के सचिव) की वह रिपोर्ट सुनी होगी जो सुबह के अधिवेशन में प्रस्तुत हुई तो इससे संस्था के पिछले डेढ़ साल के कार्यों तथा इनके प्रकारों का भलीभाँति अनुमान लगा सकते हैं । अतएव इस अवसर पर मैं संस्था की गत उपलब्धियों की चर्चा को छोड़ते हुए, संक्षेप में इसकी आधारभूत कार्यशैली पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ ।

कार्यशैली

प्रत्येक संस्था की कार्य-प्रणाली उसके उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर निश्चित की जाती है । संस्था के उद्देश्यों की पूर्वोक्त व्याख्या से इसकी कुछ विशेषताएँ आपने अवश्य अनुभव की होंगी ।

1. यह ईशभक्ति का निमन्त्रण देती है। अतः इसमें किसी दुनियावी स्वार्थ का होना असम्भव है, और यदि हो तो यह इसका दोष है जो स्वयं इसके लिए ही घातक हो सकता है।

2. ईशभक्ति का अर्थ इसके निकट अत्यन्त विस्तृत है। इसके दायरे में न केवल मनुष्य का वैयक्तिक जीवन ही आता है बल्कि सामूहिक जीवन भी अपने समस्त विभागों सहित इसमें सम्मिलित है।

3. ईशभक्ति के साथ, अनिवार्यतः एकेश्वरवाद तथा मानवता के एकत्व का सिद्धान्त सम्मिलित है, जाति-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति, वंश अथवा वर्ण-भक्ति आदि भक्तियों की कोई थेगली नहीं लग सकती। अतः इस संस्था का निमंत्रण भी किसी विशेष जाति और क़ौम के लिए ख़ास नहीं है। इसका सम्बन्ध प्रत्येक जाति और क़ौम से है। सभी इसके मुख़ातिब हैं और सबका हित इसके सामने है।

इन विशेषताओं को दृष्टि में रखकर यदि विचार करें तो आपको मालूम होगा कि इस संस्था की कार्यशैली उन राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं की कार्यशैलियों से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए जो या तो धर्म की संकीर्ण धारणा के अन्तर्गत कार्यशील हैं, अथवा अपने सम्मुख केवल सांसारिक स्वार्थ या किसी विशिष्ट जाति एवं राष्ट्र के जातीय एवं राष्ट्रीय स्वार्थ ही रखती हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जमाअते इस्लामी न तो सीमित अर्थ में कोई धार्मिक संस्था है और न आज के अर्थ में राजनीतिक संस्था। और इसी कारण हमारी अब तक की कार्यशैली यह रही है कि हमने अपने को न केवल हर उस आन्दोलन से विलग रखा बल्कि उससे विलग रहने का निमन्त्रण दिया है, जिसका प्रयोजन केवल कोई सांसारिक अथवा भौतिक स्वार्थ हो और इसी कारण हमें अब भी ऐसे आन्दोलनों से कोई लगाव नहीं है जो सिर्फ़ किसी सांसारिक उद्देश्यों के लिए हो रहे हों।

हमने अपने निमन्त्रण की दूसरी विशेषता के अन्तर्गत एक ओर ईश-भक्ति के सही तथा विस्तृत अर्थ को प्रमाण सहित दिलों में उतारने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर पाश्चात्य दृष्टिकोणों की तर्कपूर्ण सैद्धान्तिक आलोचना करके यह स्पष्ट किया है कि इनके अन्तर्गत जीवन को ईश्वरवाद से रिक्त कर देना, अथवा इसे वैयक्तिक जीवन तक सीमित कर देना, कितना ग़लत और विनाशकारी है और इस विषय में पर्याप्त लिटरेचर तैयार किया गया है। तीसरी विशेषता के अन्तर्गत हमने जहाँ मुसलमानों को यह दावत देने का प्रयत्न किया है वहीं इस बात को भी ध्यान में रखा है कि यहाँ के प्रत्येक सम्प्रदाय को इससे परिचित करा सकें, और इस उद्देश्य से हमने उर्दू के अलावा देश की अन्य भाषाओं को भी अपने काम के लिए चुना है; और इसी उद्देश्य से हिन्दी में पवित्र क़ुरआन का अनुवाद

तथा अन्य पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं । यद्यपि अब तक हमने अपना सबसे पहल मुख़ातब बहुधा मुसलमानों को ही बनाया है, जिसका कारण यह है कि यद्यपि उनकी अकसरियत व्यवहारत: इससे दूर है मगर चूँकि अब भी वह उसमें श्रद्धा रखत है, अत: दूसरों की अपेक्षा उनसे हमें अधिक आशा है कि वे इस निमन्त्रण प लपकेंगे और उनके द्वारा इस निमन्त्रण का व्यावहारिक नमूना सामने आ सकेगा ।

इन तीन विशेषताओं के अतिरिक्त एक और विशेषता यह भी है कि हम अन्‍ संस्थाओं की तरह अपने चारों ओर कोई भीड़ एकत्र करना नहीं चाहते जिसे वक़्त तौर पर उभारकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लिया जाए । बल्कि हम इस बात क प्रयत्न करते हैं कि सर्वप्रथम लोग विचार में हमसे सहमत हों और जब वे हमा निमन्त्रण को सत्य समझ लें तो इसको यथाशक्ति अपने जीवन की विशेषता बना और इसके विरुद्ध किसी अन्य वस्तु को जानते-बूझते ग्रहण न करें और अन्तत यह कि अपने विचारभाव एवं आचरण में तबदीली पैदा करके इसके लिए तैया हो जाएँ कि सब मिलकर सत्य के ध्वजावाहक बनें और अपनी अमली ज़िन्दगी से भी संसार के सम्मुख इसके सत्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करें ।

जमाअते इस्लामी का संस्थापन इसी प्रकार हुआ है, और हम कह सकते कि संस्था में जो लोग सम्मिलित हैं वे अल्पाधिक इसी प्रकार सम्मिलित हुए हैं हम इससे ख़ुदा की शरण चाहते हैं कि नाम तो ईश्वर भक्ति का लें परन्तु अपन इच्छा तथा संकल्प से उसकी अपेक्षाओं की उपेक्षा करें । हम अपने सिद्धान्त के अनुसार धर्म को सम्पूर्ण जीवन पर व्यापी समझें और बाध्य हुए बिना अधार्मिकतावाद व्यवस्था का अंग बनें, या अपने ही प्रयत्नों से इसका विकास एवं वृद्धि करें नारा तो हम मानव एकता का लगाएँ, परन्तु लगाव किसी विशेष जाति अथव राष्ट्र ही से हो । हमने अपने जीवन को कथनी एवं करनी के विरोध से मुक्त रख का पूर्ण प्रयत्न किया है और इसके लिए व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रका से कठिनाइयों का सामना किया है और कर रहे हैं। हम यह तो नहीं कह सक कि हमने अपने आपको अपने निमन्त्रण की यथार्थ अपेक्षाओं के अनुसार पूर्ण रूपे सुसज्जित कर लिया है, फिर भी संकल्प तथा प्रयत्न यही है और ईश्वर से प्रार्थन करते हैं कि इस संकल्प में सफल करे ।

यह है हमारी कार्यशैली की संक्षिप्त व्याख्या । इसके बाद मैं आपका सम उन आरोपों तथा भ्रमों के खंडन हेतु नहीं लेना चाहता, यद्यपि बहुत-से लोग हम अपरिचित होने के नाते या हमारे निमन्त्रण को न समझने के कारण हमारे बारे भ्रम में पड़ते या डाले जाते हैं । जिस उद्देश्य का स्पष्टीकरण मैंने किया है औ उसकी प्राप्ति के लिए जिस कार्यशैली की संक्षिप्त चर्चा की गई है, उसके बा

इसकी क्या गुंजाइश हो सकती है कि हम अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई ऐसी कार्यशैली ग्रहण करें जो नैतिकता से गिरी हुई हो, या जो साम्प्रदायिक अथवा विध्वंसात्मक कही जा सके । जब कभी इस प्रकार के भ्रमों तथा दुर्भावनाओं की चर्चा हम सुनते हैं तो हँसी भी आती है और दुख भी होता है कि इतनी स्पष्ट बात और इसकी इतनी खुली हुई कार्यशैली की उपस्थिति में लोगों को भ्रम क्यों होता है ? और वे इस प्रकार की दुर्भावनाओं के ग्रास क्यों बन जाते हैं ।

उद्देश्य एवं कार्यशैली की व्याख्या के बाद मुझे अन्त में कुछ बातें मुस्लिमों तथा ग़ैर मुस्लिमों से अलग-अलग कहनी है ।

ग़ैर मुस्लिमों से संबोधन

ग़ैर मुस्लिम भाइयों से जो कुछ कहना है वह यह है कि स्वतन्त्रता के बाद जिन जटिल तथा शोचनीय समस्याओं से देश को पाला पड़ रहा है वे आपके सामने आ चुकी हैं और उनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ जिनका प्रभाव अनिवार्यतः हमारे देश पर भी पड़ता है, वे भी आपके सामने हैं । क्या इन दोनों प्रकार की समस्याओं की उपस्थिति में आप यह उचित समझते हैं कि निश्चिन्त एवं निष्क्रिय होकर जीवन व्यतीत करें और जो कुछ हो रहा है या होनेवाला है, उससे कोई सम्बन्ध न रखें । या आप अपना कुछ दायित्व यह भी समझते हैं कि इस परिस्थिति के बदलने के लिए जो कुछ कर सकते हैं उससे न चूकें ? पहली दशा निस्संदेह क्षणिक सन्तोष के लिए उपयुक्त है परन्तु यह सन्तोष ऐसा ही होगा जैसे तूफ़ान सिर पर आ रहा हो और हम थोड़ी देर के लिए अपनी आँखें बन्द कर लें और यह समझें कि हम इस प्रकार इसकी तबाही से बच जाएँगे । स्पष्ट है कि यह सन्तोष नहीं बल्कि आत्महत्या के लक्षण हैं ।

यही परिणाम राष्ट्रीय समस्याओं की ओर से असावधान और बेपरवाह रहने का होगा । अतः यदि आप, इस परिणाम की ओर से निश्चिन्त हैं तो हमें इस परिस्थिति पर दुख प्रकट करने के अतिरिक्त आप से कुछ नहीं कहना है, परन्तु यदि आप यह समझते है कि यह असावधानी और लापरवाही आपके लिए, आपके ख़ानदान के लिए, आपके पड़ोसियों तथा मुहल्लेवालों के लिए, और फिर सामूहिक रूप में पूरे राष्ट्र के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकती है तो आपका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि अत्यन्त गम्भीरता एवं सूक्ष्म दृष्टि से इस परिस्थिति के सारे पहलुओं का गहराई से जायज़ा लें और फ़िर उनके सुधार के लिए कटिबद्ध हो जाएँ । हमारे विचार में इसके जो कारण हो सकते हैं, विस्तार से हमने उनको भी आपके विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया है; और फिर हमारी दृष्टि में सुधार का जो एक मात्र साधन सम्भव

है उसको भी संक्षेप में बता दिया है । आप इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें, इसमें किसी पक्षपात अथवा दृष्टिसंकीर्णता को कदापि हस्तक्षेप न करने दें । यह अपने हित-कल्याण एवं सुख-शान्ति की समस्या है और इस प्रकार के अवसर, पक्षपात एवं दृष्टिसंकीर्णता के लिए किसी तरह उचित नहीं होते, और फिर यहाँ इसका अवसर ही क्या है ? आपको मूलतः कोई नवीन पाठ नहीं पढ़ाया जा रहा है, बल्कि आप ही का एक भूला हुआ पाठ याद दिलाया जा रहा है । हमारा यह विश्वास है कि जिस ईश्वरवादी जीवन-व्यवस्था का हम निमन्त्रण दे रहे हैं उसके मूलभूत सिद्धान्त प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र के अपने पैतृक सिद्धान्त हैं क्योंकि इसका निमन्त्रण श्रेष्ठ ईशभक्त, जिनको नबी, पैग़म्बर या रसूल कहते हैं, प्रत्येक युग में, प्रत्येक जाति एवं राष्ट्र को देते रहे हैं । अतः यदि आप इनको अपने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में ढूढ़ें, तो हमें विश्वास है कि अब भी उनमें इसके बहुत-से स्मारक मिल जाएँगे । परन्तु मैं तो इससे भी अधिक एक सरल मार्ग की ओर संकेत करना चाहता हूँ; जो सहज भी है और पूरी तरह सुरक्षित भी । आप ईशप्रदत्त अन्तिम ग्रन्थ क़ुरआन का अध्ययन करें ज़ो अपने को स्वयं इसी हैसियत में प्रेषित करता है कि वह समस्त पूर्ववर्ती ईश्वरीय ग्रन्थों का सार और उनका अंतिम, पूर्ण तथा सुरक्षित संस्करण है । इससे आपको पूरी तरह सन्तोष हो जाएगा कि इस पुस्तक ने जीवन के जो सिद्धान्त निश्चित किए हैं वही यथोचित हैं और इन पर ही चलने में संसार का कल्याण है । यहाँ यह बात भी सामने रखें तो अच्छा है कि संसार ने इन सिद्धान्तों से विमुख होकर बहुत ठोकरें खाई हैं । ग़लत एवं अप्राकृतिक सिद्धान्तों पर चलने का यह परिणाम हुआ है कि चारों ओर अन्धकार छा गया है । अतः संसार अब फिर ऐसा सोचने पर बाध्य हो रहा है कि यदि उसको इस अन्धकार से मुक्ति प्राप्त करनी है तो अन्ततः उसको उन्हीं आदेशों की ओर पलटना है जो उसके स्रष्टा ने दिए हैं । अतएव अब तो यू०एन०ओ० तक में कुछ प्रबल व्यक्ति पाश्चात्य कल्पनाओं की कड़ी आलोचना करते हैं और उनमें श्रद्धा रखनेवालों को चुपचाप इसे सुनते रहने, या लज्जा से अपना सिर झुका लेने, अथवा दबे स्वर में समर्थन करने के अलावा और कुछ नहीं बन पड़ता । यह भी कहा जा सकता है कि यू०एन०ओ० की स्थापना के उद्देश्य कुछ भी हों, उसका संस्थापन जिस प्रकार भी हुआ हो और अब तक उसकी कार्यवाहियाँ उसके घोषित उद्देश्यों से जितनी भी हटी हुई हों, परन्तु वह अपने साक्षात् स्वरूप से संसार के एक कुटुम्ब होने और संपूर्ण मानवजाति के एक बिरादरी होने और मानवता के आधार पर अपनी सारी समस्याओं के सुलझाने की बढ़ती हुई आकांक्षाओं का एक प्रतीक है । परन्तु यह स्पष्ट है कि जो कुछ हो रहा है केवल उन कठिनाइयों की अनुभूति के फलस्वरूप है जो ग़लत कल्पनाओं और भ्रममूलक धारणाओं ने उत्पन्न कर दी हैं । यह कुछ इस कारण नहीं है कि

उनको वास्तव में इन कल्पनाओं तथा धारणाओं के ग़लत होने का विश्वास हो गया है और जो कुछ अब वे चाहने लगे हैं उसकी बुनियाद किसी यथार्थ नवीन ज्ञान-विज्ञान अथवा अनुसंधान पर स्थिर है । यही कारण है कि अभी तक उनकी यह आकांक्षा केवल आकांक्षा ही है, उनका आचरण इसके प्रभाव से मुक्त है या प्रायः इनकी आकांक्षाएँ तथा आचरण परस्पर टकराते रहते हैं ।

सारांश यह कि एक ओर ये कल्पनाएँ एवं धारणाएँ है, जिन पर से स्वयं उनके माननेवालों का विश्वास उठता जा रहा है, और विश्वास उठे या रहे, इनके परिणाम इस देश में और इससे बाहर अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हो रहे हैं। और दूसरी ओर वे धार्मिक सिद्धान्त हैं जिनके सत्य होने पर मानव-प्रकृति साक्षी है और जो प्रत्येक जाति एवं राष्ट्र के भले लोगों तथा बुद्धिमानों को सदैव अभीष्ट रहे हैं तथा उनको ग्रहण करने का उन्होंने निमन्त्रण दिया है; और जिनके आधारों पर जब कभी कोई समाज अथवा शासन-व्यवस्था स्थापित हुई है, तो उससे संसार को सुख-शांति ही प्राप्त हुई है ।

अब आपको निर्णय करना है कि आप यथापूर्व इन पहली कल्पनाओं ही के अनुसार चलते रहें और देश को अधिक विनाश का अवसर दें अथवा आपको नए सिरे से अपना निर्माण इन दूसरे आधारों पर करना है । आपको निर्णय का अधिकार है । परन्तु हम शुभ चिन्ता की भावना के अन्तर्गत यह कहने पर बाध्य हैं कि देश का हित-कल्याण इस दूसरे ही मार्ग के अवलम्बन में निहित है । परन्तु आपको धोखा न हो । मैं उस मार्ग की ओर नहीं बुला रहा हूँ जिसकी ओर यहाँ की कुछ संस्थाएँ, जो भूत के पुनरुत्थान की इच्छुक हैं, बुला रही हैं । ये लोग निस्संन्देह नाम तो दीन, धर्म, अल्लाह-ईश्वर का लेते हैं, परन्तु इनके आचरण पर जाति-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति तथा वंश, वर्ण के भेद-भाव की रुचियाँ छाई हुई हैं; और जैसाकि कहा जा चुका है कि किसी धार्मिक व्यवस्था में इनकी सिरे से गुंजाइश ही नहीं । मैं इसके स्थान पर मूलतः एकेश्वरवाद, उसके प्रदत्त पथप्रदर्शन के क्रम तथा न्याय के दिन पर दृढ़ विश्वास रखने और इसको अपने प्रत्येक आचरण का आधार बनाने का निमन्त्रण दे रहा हूँ । इन आधारों को स्वीकार करने के बाद जीवन की विस्तृत व्यावहारिक रूप-रेखा तैयार करने का प्रश्न आता है । इस विषय में हमारा विचार यह है कि इसकी कुछ न कुछ रूप-रेखा तो कदाचित् प्रत्येक धर्म में मिल सकेगी । उसको इन आधारभूत सिद्धान्तों की कसौटी पर परखकर ग्रहण किया जा सकता है और उसमें जो कमी हो उसकी पूर्ति इन मूल-भूत सिद्धान्तों के प्रकाश में, सोच-विचार तथा अनुसंधान से की जा सकती है । परन्तु जहाँ तक इस्लाम धर्म का सम्बन्ध है, इसमें न केवल यह कि एक सम्पूर्ण ईश्वरवादी जीवन-व्यवस्था

की व्यावहारिक रूप-रेखा विद्यमान है, बल्कि उनपर आचरण की एक विस्तृत तालिका भी इतिहास में सुरक्षित है। वह इस सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है और नवीन विषयों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में तो सोच-विचार कर तथा मूल-भूत सिद्धान्तों के प्रकाश में नए समाधान निकालने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। किन्तु अभी तो यह बाद की बातें हैं। पहले तो केवल इस जीवन-व्यवस्था को स्वीकार करने पर राज़ी होने का प्रश्न है और इस समय हम इसी का निमन्त्रण देते हैं।

मुसलमानों से सम्बोधन

अब मैं मुस्लिम भाइयों से कुछ कहना चाहता हूँ। आपको गम्भीरतापूर्वक भली-भाँति सोच-विचार करके इस बात का निर्णय करना चाहिए कि इस्लाम से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना है अथवा इस पर पूरी तरह स्थिर रहकर ? यदि आप, ख़ुदा न करे पहली सूरत को अपनाने का निर्णय करते हैं तो आपके लिए इसमें कोई बाधा नहीं, ऐसा करने से सांसारिक दृष्टि से कुछ व्यक्तियों को संभवतः कुछ फ़ायदे भी हासिल हो जाएँ, परन्तु यदि आप इसके लिए तैयार नहीं हैं, और हमें विश्वास है कि आपकी अधिकांश संख्या अपने इरादे की हद तक ऐसी ही होगी, तो फिर गम्भीरतापूर्वक इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है कि इस्लाम से सम्बद्ध रहने का वास्तविक अर्थ क्या है ? मुसलमान आज जिस भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं उसको पूर्णतया इस्लाम से विमुख जीवन तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जो व्यक्ति इस्लाम से तनिक भी परिचित होगा वह जान सकता है कि इस्लाम अपने अनुयायियों से जिन बातों की अपेक्षा करता है, बहुत-से मुसलमान उनकी अनुभूति ही सिरे से नहीं रखते, उन पर अमल करना तो दूर की बात है। इस्लाम की अपने माननेवालों से सबसे पहली अपेक्षा यह है कि जब उन्होंने ख़ुदा को स्रष्टा, स्वामी, आज्ञापालक एवं पूज्य स्वीकार कर लिया है और हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) को अपना पथ-प्रदर्शक तथा नायक मान लिया है तो फिर उनको यथाशक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन इसी स्वीकृति ही की अपेक्षाओं के अन्तर्गत व्यतीत करना चाहिए। कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जो संसार के स्रष्टा, स्वामी एवं यथार्थ पूज्य की स्वीकृति के प्रतिकूल हो या रसूलुल्लाह (सल्ल०) के आदेशों के विरुद्ध हो। फिर दीन की एक स्पष्ट माँग यह भी है कि आप केवल इतने से सन्तुष्ट न हो जाएँ कि आप अपनी हद तक इस प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं, बल्कि आपका एक महत्वपूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य यह भी है कि दूसरों को भी इसका निमन्त्रण दें। आपकी हैसियत पृथ्वी पर ख़ुदा के गवाहों की है और आपको श्रेष्ठतम समुदाय की उपाधि जो ख़ुदा के दरबार से प्रदान हुई है वह आपको इसी पद के कारणवश

है ।

"(मुसलमानो !) तुम समस्त समुदायों में श्रेष्ठतम सुमदाय हो जो लोगों (के पथ-प्रदर्शन तथा सुधार) के लिए प्रकट किया गया है । तुम भलाई का आदेश देनेवाले तथा बुराई से रोकनेवाले और ईश्वर पर (दृढ़) विश्वास रखनेवाले हो ।"
—क़ुरआन 3:110

और यह स्पष्ट है कि 'भलाई का आदेश देना' एक ऐसा कर्त्तव्य है जिसका पालन केवल मुख से नहीं हो सकता, इसके लिए अमल की गवाही भी ज़रूरी है । अतः जब तक आप अपने जीवन से उस सत्य के सत्य होने का प्रमाण न देंगे, जिसकी ओर आप दूसरों को बुलाना चाहते हैं, उस समय तक आपकी बातें कुछ भी लाभदायक नहीं हो सकतीं । आज संसार के विभिन्न इज़्मों से निराश होने पर भी लोग इस्लाम की ओर अधिक आकर्षित क्यों नहीं होते, जबकि इसमें सारी ख़ूबियाँ मौजूद हैं ? इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि स्वयं हमारे जीवन इसके प्रभाव से ख़ाली हैं । प्रायः हम अपने आचरण से इसको कलंकित करते तथा इसकी अपकीर्ति का कारण बनते रहते हैं, क्योंकि मुसलमान जो कुछ करते हैं दूसरे लोग इसको ही सामने रखकर इस्लाम के सम्बन्ध में राय क़ायम करते हैं । इस प्रकार केवल यही नहीं कि इस देश के रहनेवालों को इस्लाम के द्वारा जो नेमतें प्राप्त हो सकती थीं उनसे वे वंचित रह गए— हालाँकि हमवतन तथा देशवासी होने के नाते वे इनके अधिक पात्र थे— बल्कि हमनें अपने हाथों स्वयं इस्लाम को भी बहुत क्षति पहुँचाई । अतः स्वयं मुसलमान बनने तथा मुसलमान होने के नाते, धर्म प्रचार की जो ज़िम्मेदारी हम पर है उसकी माँग यह है कि हम अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार के मामलों को ठीक-ठीक इस्लाम के अनुसार चलाने का प्रयत्न करें । इसी की सहायता से हमारी दुनिया भी सँवर सकती है और मरने के बाद जीवन में मुक्ति एवं कल्याण का तो इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता ही नहीं । यही एक सच्चे मुसलमान का मूल लक्ष्य होना चाहिए । हम आपको इसी मार्ग को स्वीकार करने का निमन्त्रण देते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य सारे मार्गों को हम ग़लत तथा मुसलमानों के लिए विनाशकारी समझते हैं । इनसे कुछ फ़ायदा यदि हासिल भी हुआ तो, जैसाकि अर्ज़ किया जा चुका है, वह केवल क्षणिक तथा सांसारिक लाभ होगा, परन्तु जहाँ तक इस्लाम तथा मुसलमानों की सामुदायिक स्थिति का सम्बन्ध है तो ऐसा करना कुछ भी फ़ायदेमंद न हो सकेगा, बल्कि इससे उनको भीषण क्षति पहुँचेगी । क्योंकि इस्लाम तथा ग़ैर इस्लाम दो विरोधी चीज़ें हैं, जिनके सम्मिश्रण से मुसलमानों का आचरण स्थायित्व एवं एकाग्रता से ख़ाली हो जाएगा, और फिर न इनकी सामुदायिक स्थिति शेष रह सकती

है और न वे इस्लाम के लिए कुछ उपयोगी हो सकते हैं। सच पूछिए तो उन आन्दोलनों के लिए भी वे उपयोगी नहीं हो सकते जिनमें, इस्लाम से लगाव के कारण वे एकाग्रचित्त होकर भाग न ले सकेंगे। भारत में ऐसे लोगों तथा संस्थाओं की कोई कमी नहीं है जो लोकतन्त्र, साम्यवाद, क़ौमपरस्ती और राष्ट्रवाद की अलमबरदार हों। यदि आप इनमें सम्मिलित हो गए तो इसके अतिरिक्त और क्या होगा कि इसके द्वारा जो उपद्रव मच रहा है उनमें कुछ और वृद्धि हो जाए। परन्तु संसार तो इन इज़्मों (वादों) के स्थान पर एक ऐसी जीवन-व्यवस्था चाहती है जो उसको उसके आर्थिक संकटों से छुटकारा दिला सके और वह निस्सन्देह केवल इस्लाम ही हो सकता है। परन्तु यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि प्रत्येक दीन के अलमबरदार तो मिलते हैं लेकिन ईश्वरवाद का अनुवर्तन करनेवाले तथा सत्यधर्म की ध्वजा फहरानेवालों का अभाव है। भारत में अब भी मुसलमानों की संख्या करोड़ों है और ये सब इसी इस्लाम के नामलेवा हैं, परन्तु उनका हाल यह है कि जो लोग इस्लाम की ध्वजा ऊँची करने की योग्यता रखते हैं वे भी इसे छोड़कर उन्हीं दूसरे इज़्मों के अनुवर्ती बने हुए हैं। इस्लाम का नाम लेते भी हैं तो केवल इस दृष्टि से कि मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का मामला है या अधिक से अधिक यह कि स्टेज पर खड़े होकर उपदेश देना हो तो इस्लाम को एक सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था सिद्ध करने के लिए क़ुरआन और सुन्नत से दलीलें प्रस्तुत कर दें, परन्तु जब मस्जिद से बाहर क़दम निकालें तो व्यावहारिक जीवन से प्रमाण इस बात का दें कि जो कुछ उन्होंने कहा है वह मानो भूतकाल की बात है, अब इस युग में इस्लाम ने कुछ और रूप धारण कर लिया है।

सारांश यह कि हमारी वर्तमान अवस्था इस दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय है। अतः मैं गम्भीरतापूर्वक आपको निमन्त्रण देता हूँ कि मुसलमान होने की हैसियत में आप इस पर विचार करें कि यह कहाँ तक इस्लाम के अनुकूल है। यदि वास्तव में आपको इस्लाम से प्रेम तथा लगाव है तो अपनी इस हालत को अवश्य बदलना होगा और इसका एकमात्र उपाय यही है कि आप मुसलमान होने की हैसियत और उसकी अपेक्षाओं को ठीक तौर से समझें और उनके अनुसार आचरण के लिए प्रयत्नशील हों। यह हमारा निमन्त्रण है। इस विषय को यदि विस्तार से जानना चाहें तो हमारे साहित्य का अध्ययन करें। मैं ख़ुदा से दुआ करता हूँ कि वह हमको, आपको और सारे संसार को इस पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करे और इस पर हमें जमाए रखे। (आमीन)!

o